नाट्यम्–५२

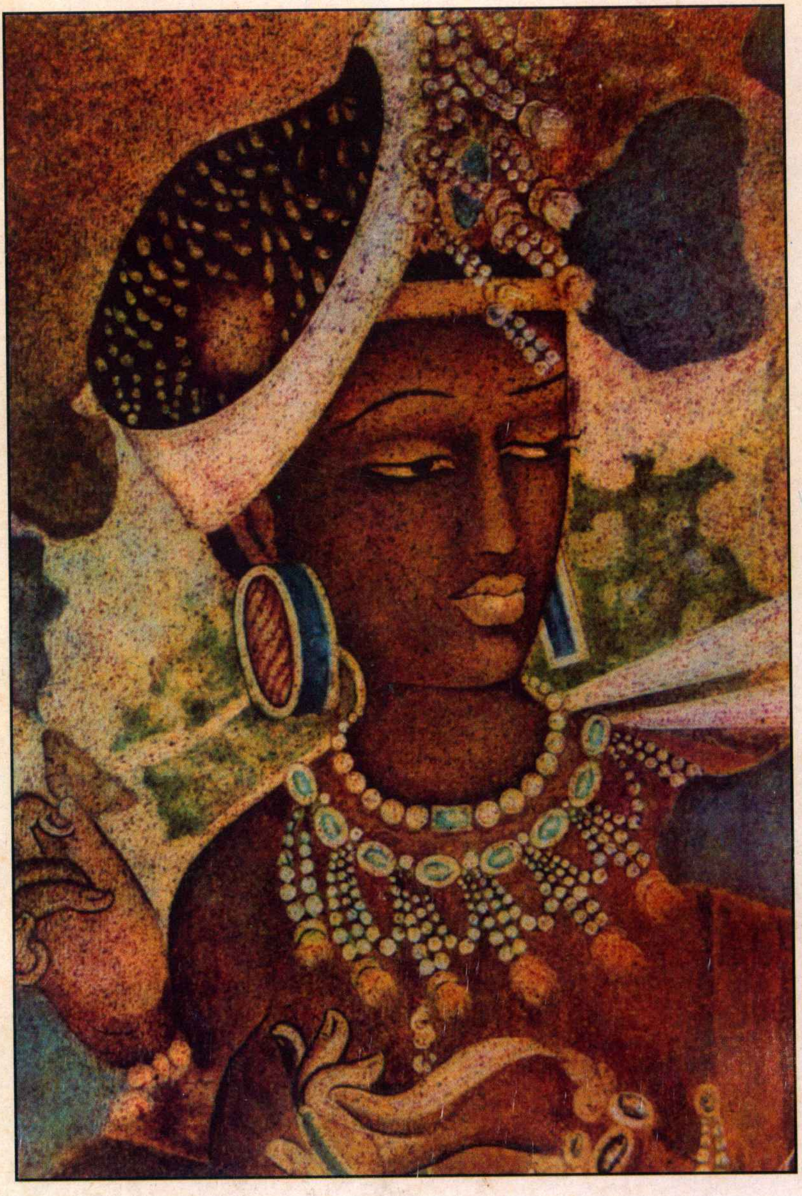

नाट्यम् – ५२

प्रधान सम्पादक

राधावल्लभ त्रिपाठी

सम्पादक मण्डल

कुसुम भूरिया, अच्युतानन्द दाश, संगीता गुन्देचा

नाट्यपरिषद्

संस्कृत विभाग

सागर विश्वविद्यालय

सागर(म. प्र.)

नाट्यम् – ५२

नाट्यपरिषद् (पंजी. क्र. १०००६६) का प्रकाशन

सदस्यता शुल्क

प्रत्येक अंक	–	१५ रू.
वार्षिक	–	५० रू.
आजीवन(प्रति व्यक्ति)	–	५०० रू.
आजीवन(प्रति संस्था)	–	१००० रू.

नोट – आजीवन ग्राहकों को डाक व्यय २५० रू. पर नाट्यम् के उपलब्ध पुराने अंक निःशुल्क देय हैं।

आवरण : प्राचीन भारतीय केशसज्जाः अजन्ता गुफा–१७

नाट्यम् में प्रकाशित नाटकों के अनुवादों/रूपान्तरों की किसी भी रूप में प्रस्तुति के लिए नाट्यपरिषद् से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है।

सम्पादकीय

नाट्यम् का प्रस्तुत अंक भारतीय कला चेतना पर केंद्रित है। गोस्वामी श्याम मनोहर का लेख 'धर्म, दर्शन विज्ञान और कला में रससृष्टि' इसी शीर्षक से प्रकाश्य उनकी पुस्तक का आरंभिक अंश है, जिसे प्रकाशित करने की अनुमाति प्रदान करने के लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। श्रीमती सुधा सोनी तथा डॉ. कुमकुम कुलश्रेष्ठ के लेख शोधसमवेत पत्रिाका से साभार उद्धृत हैं। इस अंक की सामग्री के संयोजन में सहायता के लिये नाट्यम् डॉ. आलोक श्रोत्रिाय (प्राचीन भार. इतिहास, पुरातत्त्व व संस्कृति विभाग, विश्वविद्यालय, सागर) का ऋणी है।

– राधावल्लभ त्रिपाठी

अनुक्रम

१.	धर्म, दर्शन विज्ञान और कला में रससृष्टि	गोस्वामी श्याम मनोहर	०५
२.	ऐतरेय महीदास की कलादृष्टि	राधावल्लभ त्रिपाठी	१३
३.	वात्स्यायन तथा भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा	राधावल्लभ त्रिपाठी	२२
४.	लव की लड़ाई (नाटक)	रूपांतर : राधावल्लभ त्रिपाठी	३६
५.	केश विन्यास और भारतीय कलाचेतना	सुषमा देवी गुप्ता	५१
६.	शाकुन्तल में परीक्षा – श्लोक की परिव्याप्ति	कुसुम भूरिया(दत्ता)	६२
७.	ताल : एक संक्षिप्त विवेचन, वर्गीकरण विशेषताएँ एवं महत्व	राकेश कुमार अहिरवाल	७०
८.	भरतवाक्य : नाटक व आख्यान का अन्तःसम्बन्ध	ओम्प्रकाश राजपाली	८१
९.	प्राचीन भारतीय केश–विन्यास परम्परा में खोह का मूर्ति–शिल्प	श्रीमती सुधा सोनी	८७
१०.	हिंगलाजगढ़ की देवी प्रतिमाओं में केश–सज्जा	डॉ. कुमकुम कुलश्रेष्ठ	९७

धर्म, दर्शन विज्ञान और कला में रससृष्टि

गोस्वामी श्याम मनोहर

स्थूल के भीतर रहने वाले सूक्ष्म को जान पाने की मानव की बुद्धि में चलता मन्थन दर्शन या तत्त्वज्ञान होता है, सूक्ष्म को जान लेने के बाद बुद्धि को जँचते साँचे में स्थूल को ढालने का प्रयत्न विज्ञान या साइंस होता है; स्थूल के भीतर रहने वाले सूक्ष्म की अनुभूति पाने के लिये होने वाले मानव के हृदय का स्पन्दन धर्म है; सूक्ष्म की अनुभूति के अव्यक्त आनंद को अभिव्यक्त करने के लिये हृदय को लुभाने वाले साँचे में स्थूल को गढने के लिये चलने वाली रचनाप्रक्रिया कला होती है।

दर्शन सूक्ष्म को जानने वाले दृष्टा को व्यक्त करता है। धर्म सूक्ष्म का आनन्द ले सकने वाले दृष्टा को व्यक्त करता है। विज्ञान बुद्धि को जँचते साँचे में स्थूल को गढने वाले सृष्टा को प्रकट करना चाहता है। काव्य आदि कलाएँ हृदय को जँचते साँचे में स्थूल को गढने वाले सृष्टा को प्रकट करना चाहती हैं।

अमूर्त को मूर्त में, अमृत को मर्त्य में, गति को स्थिति में अथवा अव्यक्त को व्यक्त में जान लेने के लिये किये जाते वैचारिक मन्थन द्वारा जिस समग्रता तथा जिस सत्य की खोज दर्शन और विज्ञान करना चाहते हैं, उसी समग्रता या सत्य को धर्म और काव्य आदि कला द्वारा भी खोजा जाता है। सत्य को खोजने की या समग्रता को प्राप्त करने की दिशा धर्म और काव्य आदि कलाओं की भिन्न भिन्न हो सकती है। मूर्त का अमूर्त में; नश्वर का अनश्वर में या मर्त्य का अमृत में; स्थिति का गति में और व्यक्त का अव्यक्त में हृदय की गतिविधि के द्वारा आनंद ले

कर धर्म और काव्यादि कलाएँ समग्रता को प्राप्त करना चाहते हैं तथा सत्य को खोजना चाहते हैं।

कोई दार्शनिक हो या धार्मिक अथवा वैज्ञानिक हो या कलाकार-- जो समग्रता के बोध और समग्रता की स्वीकृति के हेतु समर्थ नहीं हो पाता, उसे न तो सत्य उपलब्ध होता है और न वह उसे प्रकट ही कर पाता है। जिसके समक्ष सत्य प्रकट नहीं हो पाता, वह ब्रह्म को पहचान नहीं पाता। जो ब्रह्म को पहचान नहीं पाता ऐसे दार्शनिक के दर्शन में, धार्मिक के धर्माचरण में, वैज्ञानिक के विज्ञान में या कलाकार की कला में रस प्रकट नहीं हो पाता, क्योंकि रस स्वयं ब्रह्म है-- **रसो वै सः** *(तैत्ति०उप० २/७)*। जिसे रसानुभूति नहीं हो सकती, उसमें आनन्द की सृष्टि भी नहीं होती, क्यों कि-- **रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति** *(वही, २/७)*।

भारतीयता ने कभी भी मनुष्य-जीवन को एकांगी दृष्टिकोण से नहीं देखा है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों को पुरुषार्थ के रूप में मान्य करने वाली हमारी संस्कृति में इस तथ्य को समझा जा सकता है। ऋषि-मुनियों ने वन में रहकर ही धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र की तरह अर्थशास्त्र और कामशास्त्र का भी चिन्तन और निरूपण किया है। ऋषियों ने **"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे"** का सिद्धान्त भलीभाँति जाना माना था और उसका तत्त्वानुध्यान और रसावगाहन भी किया था। ऋषियों के लिये धर्म कोई थोथी पूजा प्रणाली नहीं थी। अत एव गीता में भगवान् को यह कहने में किसी तरह का संकोच अनुभूत नहीं होता कि- **धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि** *(७/११)* ।

हम सूक्ष्म की स्थूल में आनंदानुभति कर सकते थे, अमूर्त में मूर्त का प्रत्यय पा सकते थे, अमृत का मर्त्य में अनुभव कर सकते थे, परोक्ष को प्रत्यक्ष में खोज सकते थे। भूतल के पर्वत, नदी या वृक्ष आदि के पूजने में हमारी रसदृष्टि झलकती थी। परमात्मा के पालक रूप विष्णु की पत्नी के रूप में हम पृथ्वी का आदर करते थे। इसी दृष्टि से भूसूक्त में कहा गया -

विष्णुपत्नीं महीं देवीं माधवी माधवप्रियां लक्ष्मीप्रियसखीं देवीम्" -

इस धरती पर जन्म लेने और जीवन बिताने का अर्थ था-- इस ममतामयी माता की गोद में खेलने या आराम करने की सहज सुखद अनुभूति। ऋग्वेद में कहा है

मे माता पृथिवी महीयम् *(२/३/२)*।

मानव स्वर्ग से अधःपतित हो कर धरती पर फैंक दिया गया - यह मान्यता हमारी नहीं, गोरे साहबों की है। हमने कभी भूतल को इसतरह धिक्कारा नहीं है।

भूतल के पर्वत हमें अपनी धरती माता के स्तन प्रतीत होते थे। कालिदास ने लिखा है - - **मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः** *(मेघदूत,१८)*। इन पर्वतों से फूटती नदियों की धारा हमारे लिये दुग्धोपमवारिवाहिनी स्तन्यधारा थी। ऋग्वेद में विश्वामित्रनदीसंवाद के सूक्त में सरस्वती नदी के दुग्धधार का वर्णन मिलता है। अन्य सूक्त में यही सरस्वलती की दुग्धधारा ज्ञान की धारा बन जाती है, जिससे विश्व पोषित होता है।

यस्ते स्तनः शशयो यो मयो भूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्तः सरस्वति तमिह धातवेऽकः।।
(१।१६४।१९)

इसी परंपरा में यमुनाष्टक में कहा गया है -

नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं
न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः। ***(यमुनाष्टक, ६)*** ।

कोई हृदयहीन नरपशु ही इसे अन्धश्रद्धा कह सकता है, क्योंकि यह तो अपनी माता के लिये हमारे हृदय में कृतज्ञता से भरा निश्छल स्नेह ही है।

परमात्मा परोक्ष रूप धारण कर लजीली नवोढा नायिका की तरह अपने प्रेमी जीवात्मा के नयनों से ओझल हो कर बैठा हुआ है। इस छिप जाने में उसका गूढ स्त्रीभाव बाहर झलक रहा है। इसी भाव से महाप्रभु वल्लभाचार्य रासपञ्चाध्यायी में गोपिकाओं के बीच में छिप जाने वाले श्रीकृष्ण को स्त्रीगूढभावात्मा मानते हैं। उस छिपे हुए श्रीकृष्ण को

खोजने वाली गोपिकाओं को गूढपुम्भाववती मानते हैं। यह बात केवल मूर्ति में ही सीमित नहीं रखी गई। श्रीमद्भागवत (११।११।४२-४५) में कहा गया -

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णव खं मरुज्जलम्।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे।
सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाऽग्नौ यजेत माम्।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवादिना।
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः।
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम्।।

यहाँ ग्यारह पूजापद परिगणित हैं। इनके माध्यम से निखिल ब्रह्माण्ड ही पूजापद के रूप में प्रतिष्ठित है। वस्तुमात्र की ब्रह्मात्मकता का बोध जगाना ही इस कर्तव्योपदेश में तात्पर्यभूत उपदेश है।

उपनिषदों की दृढ विभावना थी कि एक ही ब्रह्म में अनेकविध विरोधाभासी गुण रहते हैं। अएत एव कहा गया -

अजायमनो बहुधा विजायते
अणोरणीयान् महतो महीयान्
आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
यस्यामतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्
भीषाऽस्माद् वातः पवते भीषा उदेति सूर्यः
भीषाऽस्मादग्निश्च इन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति।
सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति।

(कठोप० २।२०-२१, केनोप० २।३, तैत्तिरीयोप० २।७)

अतः अज हो कर भी नन्दात्मज, अणु हो कर भी परिमाणव्यापक कूटस्थ हो कर भी भूतलविहारी अमत हो कर भी मत, अविज्ञात हो कर भी विज्ञात, भयंकर हो कर भी आनंदरूप ऐसे अनेक रूप एक ही ब्रह्म के हो सकते हैं। जैसे एक ही रति स्थायी भाव में

असूया, गर्व, मान, प्रणय, कलह, चिन्ता आदि विविध सञ्चारी भाव प्रकट होते हैं, ऐसे ही सत्यसंकल्प परमात्मा के अद्वैत में सर्वभवनसामर्थ्य के कारण अनेकविध नामरूपकर्म प्रकट होते हैं। अतः कहा है - एकमेवाद्वितीयम्- तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय (छान्दो० ६।२।१-३)। सृष्टिरूपी इस नाटक का कुशल अभिनेता ब्रह्म अनेक नाम अनेक रूप और अनेक अनेक कर्मों को धारण कर हमारे सामने प्रकट होता ही है - **सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते** *(चित्यु० १२।७)*। अत एव द्वैत और अद्वैत एक ही ब्रह्म के दोनों वास्तविक रूप हैं- द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे। इसीलिये ब्रह्मज्ञान के सन्दर्भ में उपनिषद् जैसे केवल-द्वैतवाद का नेति नेति के द्वारा निषेध करता है, वैसे ही केवलाद्वैतवाद का भी निषेध फलित होता है।

एकान्तिक द्वैत और ऐकान्तिक अद्वैत दोनों ही अर्धसत्य सिद्ध होते हैं। ब्रह्म इन दोनों अर्धसत्यों से कुछ अधिक है- वह इन दोनों का योग भी है और दोनों ही नहीं है। गुलाब का फूल न केवल उसकी सारी पंखुड़ियों का योग होता है, प्रत्युत उससे कुछ अधिक भी होता है। अन्यथा इन्हीं पंखुड़ियों को नोंच कर उनका ढेर लगाने पर भी गुलाब का फूल हो जाना चाहिये था। गुलाब के फूल और उसकी पंखुड़ियों के बीच द्वैत होता है या अद्वैत इस समस्या का समाधान केवल द्वैतवाद के अनुसार देना चाहेगें तो कहना पड़ेगा कि गुलाब को अपनी पंखुड़ियों की अपेक्षा नहीं है। यदि केवल गुलाब या पंखुड़ियों में से किसी एक को परमार्थ सत्य मान कर केवलाद्वैतवाद का अवलम्बन करेगें, तो गुलाब की पंखुड़ियों के ढेर को या गुलाबी रंग के कागज की कतरनों के गुलाब के आकार में संयोजन को भी गुलाब मानना पड़ेगा। परिसंख्येय नहीं, अपितु अपरिसंख्येय विविध विरोधाभासी रूपों का विशिष्ट संयोजन ब्रह्म है। अत एव ऐसा नहीं सोच लेना चाहिये कि अपने घटक पदार्थों से घटित होने के कारण निज घटकों के संघात के अलावा वह और कुछ नहीं है। समग्रता के बोध के हेतु पुष्प , संगीत, चित्र, या काव्य से होने वाली रसानुभूति में जो हृदयगत भाव होता है, वह यदि न हो, तो पंखुड़ियाँ, स्वर, रंग और शब्दों को बिखरा देने पर भी अन्ततः सबका

आत्यन्तिक अभाव ही सिद्ध होगा।

द्वैत में भय की सम्भावना होती है - **द्वितीयाद्वै भयं भवति।** पर अद्वैत में तो रमण ही असम्भव है। अतः हमारी आवश्यकता न तो द्वैत की है, न अद्वैत की। हमारी आवश्यकता है निर्भय रमण की। परमात्मा ने निर्भय रमण की सिद्धि के लिये द्वैत प्रकट किया। **एकोऽहं बहु स्याम्** के अनुसार एकाकिता में अनेकता उबरी। अमूर्त को मूर्त रूप लेना पड़ा। अमृत स्वयं ही मर्त्य बन गया। स्थिति में गति के स्पन्दन होने लगे।

एकता के अनुदर्शन में भी अनेकतागत रूप के रमण का भाव बना रहना चाहिये, अन्यथा तो भ्रामक अनुवाद की तरह वह अनुदर्शन भी भ्रमपूर्ण सिद्ध होगा। यह सृष्टि भी वस्तुतः एक काव्य ही है, जिसकी रचना परमात्मा ने की है। अतीत और अनागत को जान पाना या सोच पाना सर्वज्ञ और कवि दोनों में समान होता है, अतः श्रुति स्मृतियों में परमात्मा को कवि कहा गया है - **कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।** उपनिषद् कहती है - **अनन्तमव्ययं कविम्।** गीता में भी परमतत्त्व को कवि कह कर परिभाषित किया गया - **कविं पुराणमनुशासितारम्** (*गीता ८/९*)

आजकल हम "रसात्मक शब्दसंयोजन" जैसे सीमित अर्थ में काव्य शब्द का प्रयोग करते हैं। संस्कृत भाषा के सौन्दर्यशास्त्र में नाटक को भी दृश्य काव्य माना गया है। थोड़े से पूर्वाग्रह से मुक्त हो कर यदि सृष्टि को भी हम एक काव्य मान सें, तो पाँचों ज्ञानेन्द्रियों (आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा) द्वारा इस सृष्टि काव्य को देखा जा सकता है, सुना जा सकता है, सूँघा जा सकतै है, चखा जा सकता है और छुआ जा सकता है। यही नहीं, पाँच कर्मेन्द्रियों (हाथ, पाँव, वाणी आदि) के द्वारा इस काव्य को पकड़ा जा सकता है, इसमें पग से विचरण किया जा सकता है, इसका गान किया जा सकता है। सृष्टि के इस नाट्य में मानव मूक दर्शक भर नहीं है। इसमें भाग न लेना हो, तो साक्षीभाव से इसे देखा जा सके- इस तरह का रंगनिर्देश सृष्टि नाट्य की प्रस्तुति में ज्ञानन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के समायोजन से पाया जा सकता है। इस नाटक की कथा में हमें क्या भूमिका निभानी है, क्या क्या संवाद बोलने हैं- यह सब हृदय में बैठा परमात्मा क्षिप्रनिर्देश या

प्राम्प्टिंग के द्वारा बताता जा रहा है। उसकी अन्तःप्रेरणा को बूझने के लिये बुद्धि हमें दी गई है। अपने स्वयं के और दूसरे पात्रों के अभिनय का आनंद उठाने के लिये मन हमारे पास है। इस नाटक में तन्मयीभवन हो सके- इसके लिये अहंता और ममता की भूलभुलैया के भीतर हमें रखा गया है। यह अहन्ता ममता यदि अपने ही अभिनय को पूर्ण करने में सीमित रह जाये, तो उसे अविद्या कहते हैं, यदि यह सृष्टि की क्रीडा को समग्रता से आवृत कर पाये तो उसे विद्या की पराकाष्ठा रूप सर्वात्मभाव कहा जाता है।

इसीलिये महर्षि वामदेव को ब्रह्मानुभूति की मस्ती में अपना अहंभाव अपने देह में सीमित लगने के बजाय समग्र ब्रह्मांड में व्याप्त लगने लगा था -

तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे - अहं मनुरभवमहं सूर्यश्च-- *(बृह०उप० १/४१०)*

इस जगत् में ऐकान्तिक आत्मरमण सम्भव नहीं है। नाटक देखने में भी यही बात है। द्रष्टा की केवलाद्वैती दृष्टि रामलीला के रस में रसाभास पैदा करती है, उसकी परिणति या तो अरति में होती है या केवल व्यक्तिगत रति में। नाटक देखते समय द्रष्टा और दृश्य के बीच तादात्म्य के भाव के ऐसे निर्झर बहने चाहिये जिनके प्रवाह में हमारी चेतना से केवल द्वैत और केवल अद्वैत के सारे धब्बे धुल जायें। अहं ब्रह्मास्मि की साधना का तात्पर्य भी अहंकारास्पद जीवात्मा के केवल अद्वैत में न हो कर जीवात्मा और परमात्मा के बीच रूपगत वास्तविक द्वैत होने पर भी तत्त्वगत मौलिक अद्वैत के प्रतिपादन में है। लीला के दृश्य और द्रष्टा के बीच एक साधारणीकरण में उपनिषद् का तात्पर्य है।

एक ही परमात्मा में अपरा प्रकृति के विविध रूप और परा प्रकृति के विविध रूपों के द्वैतों की सूक्ष्म संभावनाएँ रहती हैं, जैसे एक ही बीज में किसी वृक्ष के विविध वर्ण, आकृति, गन्ध और स्वाद वाले पत्र, पुष्प और फलों के द्वैत की सूक्ष्म सम्भावनाएँ विद्यमान रहती हैं। अत एव भागवत में कहा गया है -

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च (२/५/१४) द्रव्य,

कर्म, काल, स्वभाव और जीव परमात्मा की तत्त्व दृष्टि से भिन्न नहीं होते, पर रूपदृष्टि से भिन्न दिखाई पड़ते हैं, क्योकि ब्रह्म ही इन अनेकविध रूपों को धारण कर जगदात्मना प्रकट हुआ है-- तदात्मानं स्वयमकुरुत (तैत्ति०उप० २।७)। अतः ये सभी रूप उस परमात्मा की सुकृति या सुन्दर कृति हैं, तथा यहाँ जो कुछ व्यक्त हुआ है, वह सुकृति ही है- -- **तस्मात् तत् सुकृतमुच्यते, यद्वै तत् सुकृतम्** ***(तैत्ति०उप० २।७)*** । परमात्मा रसरूप है, अतः उसकी प्रत्येक कृति में एक विशिष्ट रस व्यक्त होता है। इस रस को जाने बिना इस सृष्टि में आनंद मिलने वाला नहीं। इस सृष्टि में प्रत्येक प्राणी में रहने वाली जिजीविषा जीवन के प्रति अदम्य लालसा इसी रस का रूप है। हम प्रत्येक साँस में आनन्द की रसानुभूति करते होते हैं, नहीं तो कोई निरर्थक साँस क्यों लेगा - **कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाशे आनन्दो न स्यात्** ***(तैत्ति०उप० २।७)।***

परमात्मा की यह रस रूप सृष्टि भी दो वर्गों में विभक्त है - शान्तरस और शान्तेतररस। पहले वर्ग में मिलने वाला आह्लाद अतिशय सूक्ष्म, अमूर्त, अमृत, स्थायी और अव्यक्त होता है, दूसरे वर्ग में शृंगार आदि आठ रस आते हैं। इनसे प्राप्त होने वाला आह्लाद स्थूल, मूर्त, मर्त्य, अस्थायी और व्यक्त होता है। अतः शान्त रस में अद्वैत भाव की प्रमुखता रहती है, अन्य रसों में द्वैत भाव की। शान्त रस में सागर के तल में रहने वाली स्थिरता होती है अन्य रसों में उसकी सतह पर होने वाली अस्थिरता। शान्त रस सभी रसों के केन्द्र में उस प्रकार अवस्थित है, जिस प्रकार नव ग्रहों के केन्द्र में सूर्य।

---OOO---

ऐतरेय महीदास की कलादृष्टि

राधावल्लभ त्रिपाठी

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद का एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण है। इसके प्रणेता ऐतरेय महीदास कहे गये हैं। आधुनिक विद्वानों की मान्यता है कि इतरा नामक दासी के पुत्र होने के कारण इनका नाम ऐतरेय हुआ। सायण के अनुसार किसी महर्षि की अनेक पत्नियाँ थीं, उनमें से इतरा भी एक थी, जिससे इनका जन्म हुआ, जब कि षड्गुरुशिष्य के अनुसार यज्ञवल्क नामक ऋषि की दो पत्नियाँ थीं- ज्येष्ठा तथा इतरा। इनमें से उपेक्षित इतरा से ऐतरेय उत्पन्न हुए। यज्ञ में पिता के द्वारा अपमानित किये जाने पर स्वयं धरित्री सर्वतोभद्र सिंहासन इनके लिये ले कर उपस्थित हुई और उस पर आसीन होने के कारण इनका नाम महीदास पड़ा।[1] ऐतरेय ब्राह्मण १००० ई०पू० या उससे पहले की रचना है। कला, संस्कृति और सौन्दर्य के विषय में इसमें जो चिन्तन महीदास ने प्रस्तुत किया है, उसे देखते हुए उन्हे विश्व का प्रथम कलाचिन्तक भी कहा जा सकता है। उनका यह चिन्तन वैदिक दर्शन या वैदिक विश्वबोध के मूलाधार पर प्रतिष्ठित है।

वैदिक विश्वबोध इस जगत् को परमात्मा की रची कविता के रूप में देखता है (देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति)। शतपथ ब्राह्मण (७।२।२।१७) तथा बृहदारण्यक उपनिषद् (१।५.१४) में प्रजापति की सोलह कलाओं का विवरण है, जो काल या समयचक्र के रूप में जगत् को धारण करती हैं। यदि यह जगत् परमात्मा के द्वारा रची कविता है, तो इस कविता को कवि या कलाकार अपनी कृति में नये सिरे से रचता, कहता और प्रस्तुत करता है। ऐतरोय महीदास इस दृष्टि से समस्त कलाओं या शिल्प को दो प्रकार का मानते हैं - देवशिल्प और मानुष शिल्प। देवशिल्प की ही अनुकृति मानुष शिल्प है। इस संसार के नाना पदार्थ देवताओं के शिल्प हैं। उनकी अनुकृति में मनुष्य अपना शिल्प, कला या

कविता रचता है।

एतेषां देवशिल्पानामनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते। हस्ती, कंसो वासो हिरण्यम्, अश्वतरी रथः।

(ऐतरेयब्रा० ३०।१, भाग-३, पृ० १३१)।

अनुकृति शब्द का प्रयोग ऐतरेय ने सोमयाग के वर्णन में सोमक्रय कें प्रसंग मे भी किया है (तामनुकृतिं .... वत्सतरीमाजन्ति सोमक्रयणीम् - ऐतरेयब्रा० १।५) यद्यपि षड्गुरुशिष्य ने यहाँ अनुकृति का अर्थ कृतिम् अनु तदनुसारेण लिया है।) देव अथवा परमात्मा के शिल्परूप इस जगत् में त्रिलोकी समाहित है। उसी तरह इस देवशिल्प की अनुकृति में मनुष्य जो शिल्प रचता है उसमें समस्त ललित, रूपंकर तथा प्रदर्शकारी कलाएँ समाहित हो जाती हैं। परमात्मा आत्मविस्तृति या अपनी लीला के विस्तार के लिये जगत् रूपी शिल्प को रचता है, तो मनुष्य आत्मसंस्कृति के लिये मानुष शिल्प रचता है। ऐतरेय महीदास पहले भारतीय विचारक हैं, जिन्होने कला या शिल्प की अवधारणा से जोड़ कर संस्कृति की अवधारणा प्रस्तुत की है।

आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि। छन्दोमयं वा। एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते। ***(ऐतरेयब्रा० ६।२७)।***

यहाँ छन्दस् या काव्य को भी शिल्प कहा गया है। इस तरह कविता कवियिता तथा भावक दोनों का संस्कार करती है- यह मन्तव्य यहाँ स्पष्ट है। अन्यत्र भी ऐतरेय ने कहा है कि स्तोता स्तुति के द्वारा अपने को संस्कारित करता है -

स्तोत्रियं शंसति। आत्मा वै स्तोत्रियः। तं मध्यमया वाचा शंसति। आत्मानमेव तत् संस्कुरुते। ***(ऐतरेयब्रा० १३।१२, पृ० ५१२)***

कौषीतकि ब्राह्मण में नृत्य, गीत तथा वादित्र को भी शिल्प के रूप में परिभाषित किया गया है -

त्रिवृद् वै शिल्पम्-- नृत्यं गीतं वादितमिति। (कौ०ब्रा० २९।५)

यद्यपि ऐतरेय ब्राह्मण से ऊपर दिये गये उद्धरण के उत्तरार्ध में महीदास ने जो उदाहरण शिल्प के दिये हैं, वे सब केवल रूपंकर

कलाओं के है, पर आगे वे स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि देवशिल्प और मानुषशिल्प के रूप में द्विविध शिल्प की उनकी अवधारणा वस्तुतः तकनीकी या रूपंकर कलाओं पर ही नहीं, ललित व प्रदर्शनकारी कलाओं के लिये भी है। अत एव गीत का प्रतिपादन करते हुए गीत के भी ये दोनों प्रकार वे बतलाते हैं - देव गीत और मानुष गीत। देव गीत ऋक् है, मानुष गीत गाथा है (ऐत०ब्रा० ७।८)। कविता और कला अथवा व्यापक अर्थ में शिल्प के दैव और मानुष के रूप में ये दो प्रकार काव्यरचना या कलासर्जना की प्रक्रिया को भी इंगित करते हैं। दैव गीत या ऋक् ईश्वर की कृति है, जिसे ऋषि साक्षात्कार में देखता है, मानुष गीत सायास रची हुई कृति है।

जिस तरह वैदिक ऋषि समस्त सृष्टि को परमात्मा के काव्य के रूप में अनुभव करता है, उसी तरह ऐतरेय समस्त सृष्टि को शिल्प के रूप में देखते हैं। काल की गति में शिल्प है, नृत्य में लय व गति है इसलिये नृत्य भी शिल्प है, दिन और आवर्तन और और परावर्तन में गति करते हैं, इसलिये ऐतरेय दिन और रात के आने और जाने में नृत्य देखते हैं -

अहश्च रात्रिश्च कृष्णमहरर्जुनं चेत्याविनमारुतस्य प्रतिपदहश्चाहश्चेति पुनरवृत्तं पुनर्निनृत्तम्। (***ऐतरेयब्रा० ५।१५)***

शिल्प की यह व्यापक अवधारणा तथा जगत् का परमात्मा के शिल्प के रूप मे दर्शन इस परम्परा में आगे की सहस्राब्दियों में अव्याहत बना हुआ है। महाभारत में कहा गया है -

योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्याः शिल्पानि कर्म च।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत् सर्वं जनार्दनात्।।

ऐसा लगता है कि नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि भी जहाँ जहाँ शिल्प का उल्लेख करते हैं, उसकी इस व्यापक विवृति को दृष्टि में रख कर ही करते हैं। क्यों कि वे बार बार कहते हैं कि नाट्य में सारे शिल्प समाहित हो जाते हैं, और यह कहते हुए वे कहीं भी काव्य का उल्लेख

शिल्प के साथ नहीं करते। स्पष्ट ही काव्य भी उनके अनुसार इसी शिल्प में समाहित है।

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्मनट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।
(२।११६ तथा १९।१४३)

न शक्यमस्य नाट्यस्य गन्तुमन्तः कथञ्चन।
कस्माद् बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां वाऽप्यनन्ततः।। ***(६।६)***

कुल मिला कर ऐतरेय महीदास के द्वारा प्रस्तुत शिल्प की व्याख्या और काव्य-कला- सर्जना प्रक्रिया की विवृति समग्र भारतीय परम्परा में अव्याहत बनी रही है। ललितविस्तर में शिल्पसन्दर्शन परिवर्तन प्रकरण में नाना प्रकार के शिल्पों के नाम दिये गये हैं, यहाँ भी काव्य, चित्र, रूपकर्म, वाद्य आदि का शिल्प के अन्तर्गत उल्लेख है। भावप्रकाशकार शारदातनय एक ही पदार्थ को नानारूपों में विन्यस्त करने की प्रक्रिया को शिल्प मानते हैं (भाप्र० ३।७६।३-४)।

इसी क्रम में ऐतरेय ब्राह्मण में शिल्पसम्बन्धी सूक्तों का भी विवरण दिया गया है, जिनका षडह के दिन पाठ किया जाता था *(शिल्पानि शंसन्ति - **ऐ०ब्रा० ६।२७**)* ।

ऐतरेय महीदास की देवशिल्प और मानुष शिल्प की यह अवधारणा भारतीय कलाचिन्तन और व्यवहार में दूर दूर तक अनुप्रविष्ट देखी जा सकती है । कविगण भी संसार में जो सौन्दर्य, लालित्य, उदात्त और भव्य है उसे परमात्मा या प्रजापति की आद्य सृष्टि बताते आये हैं। कालिदास "या सृष्टि सृष्टुराद्या" या "स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रति-भाति सा मे" ks द्वारा ही नहीं, दुष्यन्त के द्वारा निर्मित शकुन्तला के चित्र की रचनाप्रक्रिया की जो मीमांसा करते हैं, उसमें भी परमात्मा की सृष्टि तथा मनुष्यकृत शिल्प रचना में उसकी अनुकृति को स्वीकार करते हैं, साथ ही वे यह भी कहना चाहते हैं कि परमात्मा की सृष्टि में जिस आनन्त्य और वैविध्य के साथ सौन्दर्य का उल्लास है, अंशतः ही मानवकृत कलाशिल्प में अन्वित हो पाता है -

यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत् तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्।।

कथासरित्सागर में तो दिव्यशिल्प और मानुषशिल्प की ऐतरेय की अवधारणा को नायिका से सौन्दर्यवर्णन में यथावत् दोहरा सा दिया है-

ते तन्निरूप्य जगदुर्नेदृशो देव शक्यते
अपरः कर्तुमेतद्धि दिव्यं शिल्पं न मानुषम्।।

(कथासरित्सागर, २५/१/७५)

ऐतरेय महीदास ने अनुकृति शब्द के प्रयोग के साथ अनुकृति की जिस प्रक्रिया की ओर संकेत किया है, उसी का पल्लवन भरत मुनि से आरम्भ कर के भारतीय कलाचिन्तन या नाट्यशास्त्रीय विचार में अभिनवगुप्त आदि करते आये हैं। अनुकरण की जो अवधारणा प्लेटो में थी उसमें कला या काव्य को गर्हित दृष्टि से देखा गया। प्लेटो की दृष्टि से कला या कविता अनुकृति की भी अनुकृति मात्र है इसलिये वह सत्य से दो गुना दूर है। यह जगत् ही परमात्मा की परिकल्पना की अनुकृति या नकल है, कला, कविता या नाटक इस नकल की भी नकल है। भरतमुनि[२] तथा अभिनवगुप्त[३] ने अनुकृति के दो अर्थ बताये हैं - एक अत्यन्त सीमित और लौकिक अर्थ है, जिसमें परचेष्टा का हास्योत्पादक हू-ब-हू पुनः-प्रस्तुतीकरण अनुकरण है, इस अर्थ में कला या कविता कभी भी अनुकृतिजन्य नहीं हो सकती। दूसरी ओर भरतमुनि अनुकृति के व्यापक अर्थ में, समस्त नाट्य या कलाव्यापार को ही अनुकृति कहते हैं। व्यापक अर्थ में अनुकृति अनुव्यवसायात्मक कवि-नट-सहृदयगत सर्जनात्मक व्यापार है। प्लेटो का खंडन करते हुए अरस्तू ने अनुकृति की जो अवधारणा प्रस्तुत की वह इसी व्यापक आधार पर। उसके अनुसार कलागत या काव्यगत अनुकृति हू-बहू नकल न को कर पुनःप्रस्तुति (रिप्रजेंटेशन) है। अरस्तू में यह अनुकृति कविगत सर्जनात्मक व्यापार है।

ऐतरेय महीदास के कलासर्जनाविषयक चिन्तन में सबसे

महत्त्वपूर्ण कथ्य है उनके द्वारा शिल्प व आत्मसंस्कृति को अभिन्न बताना। अर्थात् कला या शिल्प को रचना आत्मसंस्कार करना ही है। हमारे समय में मार्क्स एक सर्वथा भिन्न परिप्रेक्ष्य में ही सही, प्रकारान्तर से ऐतरेय की बात को दोहराते हैं। वे कहते हैं कि कारीगर या शिल्पी अपने ओजारों से रचना करता हुआ दुनिया को भी बदलता है और उसके साथ अपने आप को भी बदलता है। मार्क्स कहते हैं - "इस प्रकार बाह्य जगत् में काम करते और उसे बदलते हुए उसके स्वभाव में भी परिवर्तन होता है। वह अपनी सोची हुई शक्तियों का विकास करता है और अपनी अभिरुचि के अनुरूप ही उन्हें कार्य करने को बाध्य करता है।" (मार्क्स : केपिटल, खंड -१, पृ० १७७०-७८, मास्को, १९८५)।

ऐतरय महीदास ने कवि को अनूचान के अर्थ में लिया है-- (ये वा अनूचानास्ते कवयः - ऐतरेयब्रा०- २।६५, पृ० २१६)। काव्यरचना या कलासर्जना की प्रक्रिया में चेतना के वे तीन स्तर इंगित करते हैं - सरस्वती,इला तथा भारती। वाक् राष्टी या ईश्वरी है (वाग्वै राष्ट्री- वही, १।४, पृ० १२१)। वृत्तिकार षड्गुरुशिष्य ने यहाँ राष्ट्री का अर्थ ईश्वरी किया है। ये तीनों देवियों प्राणस्वरूपा हैं, इनके द्वारा यजमान त्वष्टा का यजन करता है। वस्तुतः वाक् ही त्वष्टा है. इस सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने के कारण इसे त्वष्टा कहा जाता है -

त्वष्टारं यजति। वाग्वै त्वष्टा। वाग्घीदं सर्वं ताष्टीव।। (ऐतरेयब्रा०- ४।६, पृ० २२८) षड्गुरुशिष्य ने ताष्टि का अर्थ 'प्रकाशयति' किया है। ऐतरेय प्रजापति की सृष्टिप्रक्रिया के रूपक के द्वारा भी कलासर्जना प्रक्रिया की ओर इंगित करते हैं। तदनुसार प्रजापति ने तप किया, और तप के द्वारा वाक् की प्राप्ति की। वाक् से उन्होने समस्त जगत् को रचा- (ऐतरेब्रा० १।१०. पृ० ३६७-६८)।

सृष्टि के यज्ञ में सूक्तों या छन्दस् को पशु बना कर बलि स्वरूप अर्पित किया जाता है उसी से यजमान या सर्जक इसा लोक में स्वर्ग में प्रतिष्ठित होता है -

मिथुनानि सूक्तानि शस्यन्ते, त्रैष्टुभानि च जागतानि च, मिथुनं वै

पशवः पशवश्छन्दांसि पशूनामवरुद्ध्यै। (ऐतरेयब्रा० १८।७, भाग-२, पृ० ९५)।

ऐतरेय वाणी को समुद्र के समान बताते हैं, जिस तरह समुद्र कभी क्षीण नहीं होता, उसी तरह वाक् भी कभी क्षीण नहीं होती -

वाग्वै समुद्रः। न वै वाक् क्षीयते। न समुद्रः क्षीयते। (ऐतरेयब्रा० २३।१, भाग-२, पृ० २२७)।

वृत्तिकार षड्गुरुशिष्य के अनुसार 'वै' यहाँ इवार्थक है।

इस छन्दस् या वाक् में रस होता है। छन्दस् के रस का प्रतिपादन भी ऐतरेय ने इतिहास के आख्यान के माध्यम से किया है। छन्दस् में जो रस था, वह विगलित होने लगा, जिससे प्रजापति भयभीत हुए कि इस तरह तो छन्दस् का रस लोक से अतिक्रान्त हो जायेगा। तब उन्होने छन्दस् के उस रस को नारांशंसी तथा गायत्री के द्वारा बाँध लिया।

छन्दसां वै षष्ठैनाह्नाप्तानां रसोऽत्यनेदत्। स प्रजापतिरबिभेत्। पराङ्यं छन्दसां रसो लोकानत्येष्यतीति। तं परस्ताच्छन्दोभिः पर्यगृह्णात्। नाराशंस्या गायत्र्याः। रैभ्या त्रिष्टुभः। पारिक्षित्या जगत्याः। कारव्यानुष्टपभः। तत् पुनः छन्दःसु रसमदधात्। सरसैर्हास्य छन्दोभिरिष्टं भवति। सरसैश्छन्दोभिर्यज्ञं तनुते य एवं वेद।

(ऐतरेयब्रा० ३०।६, भाग-३, पृ० १५५-५९)।

कलासर्जना के विषय में एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान ऐतरेयमहीदास ने साम गीत की उत्पत्ति की रूपक-कथा के द्वारा भी प्रस्तुत किया है। कथा इस प्रकार है - पूर्व में ऋक् और साम पृथक् थे। ऋक् का नाम सा तथा साम का नाम अमः था। ऋक् ने प्रजोत्पादन के लिये अमः से विवाह का प्रस्ताव किया । साम या अमः ने अपनी महिमा अधिक बताते हुए यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। फिर दो ऋचाओं ने मिल कर अमः के साथ विवाह का प्रस्ताव किया। अमः ने अपनी महिमा अधिक बताते हुए फिर से यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। तब तीन ऋचाओं ने मिल कर अमः के साथ विवाह का प्रस्ताव किया, और अब

की बार अमः ने प्रस्ताव स्वीकार कर सिया, जिससे साम की उत्पत्ति हुई, और सा तथा अमः के युगल को साम कहा गया (ऐत०ब्रा० ३।२३)।

कलासर्जनाविषयक महत्त्वपूर्ण चिन्तन के कारण नीहाररंजन रे ने ऐतरेय महीदास को कला के क्षेत्र में विश्व का प्रथम विचारक माना है।

सन्दर्भ

१- महीप्रणीतासन आसनाच्च स्वाम्बासपत्नीमदनाशनाच्च।
महादानाद् वेदरूपाच्च नाम त्रिधानिरुक्तं तु पृषोदरादि।।
(ऐतरेयब्राह्मण, षड्गुरुशिष्य कृत भाष्य, पृ० ८)

२- तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्यैः सुरा जिताः। नाट्यशास्त्र १।५७,
नाना भावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।। वही १।११२
सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमतद् भविष्यति। वही, १।११७
येनानुकरणं ह्येतन्नाट्यमेतन्मया कृतम्। वही, १।११८,

३- तदिदमनुकीर्तमनुव्यवसायविशेषो नाट्यापरपर्यायः।
तेनानुव्यवसायवद् विशेषीकार्यं नाट्यम्।
तस्मादनुव्यवसायात्मकं कीर्तनं रूषितविकल्पसंवेदनं नाट्यम्। तद्वेदनवेद्यत्वात्। न त्वनुकरणरूपम्। यदि त्वेवं मुख्यलौकिककरणानुसारितयाऽनुकरणमुच्यते तन्न कश्चिद् दोषः। स्थिते वस्तुतो भेदे शब्दप्रवृत्तेरविवादास्पदत्वात्। -
अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र- वडोदरासं०भाग-१, पृ० ३६-३७

ग्रन्थसूची

ऐतरेय ब्राह्मण- षड्गुरुशिष्यकृत सुखप्रदावृत्ति स० सं० अनन्तकृष्ण शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९४२-५२

ऐतरेय ब्राह्मण- सायणभाष्यस०, आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला, पूना, १९७९

ऐतरेय ब्राह्मण- षड्गुरुशिष्यकृत सुखप्रदावृत्ति स० - तीन भाग,

२१/ऐतरेय महीदास की कलादृष्टि

नागप्रकाशन, दिल्ली, १९९१

(इस लेख में पृष्ठंख्या इसी संस्करण से दी गई)

कौशीतकि ब्राह्मण - आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला, पूना, १९११

---000---

नाट्यम् के विशेषांक

अंक ६-७ : कालिदास विशेषांक
अंक १८ : भवभूति विशेषांक
अंक १९ : सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक
अंक २० : नाट्यशास्त्रविषयक अप्राप्त ग्रन्थ
अंक २२ : भास विशेषांक
अंक २३ : सूत्रधार और विदूषक पर केन्द्रित
अंक २५-२६: संक्षिप्त नाट्यशास्त्र
(मूल तथा हिन्दी अनुवाद)
अंक २८ : आधुनिक रंगमंच पर केन्द्रित
अंक २९ : संस्कृत प्रहसनों पर केन्द्रित

वात्स्यायन तथा भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा

राधावल्लभ त्रिपाठी

मल्लनाग या वात्स्यायन का *कामसूत्र* *(कासू.)* कामशास्त्र का एक आकर ग्रन्थ है। जिस प्रकार अन्य पुरुषार्थों पर आकरग्रन्थों का प्रणयन करने वाले चिन्तक ऋषि माने गये, उसी प्रकार काम पुरुषार्थ पर अपने सूत्र ग्रन्थ की रचना के द्वारा वात्स्यायन भी भारतीय परम्परा में एक ऋषि के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

ए.के.वार्डर[१] की मान्यता है कि कामशास्त्र धर्मशास्त्रविरोधी लोकायत सम्प्रदाय के अधीन रह कर विकसित हुआ। यह धारणा सर्वथा अनुचित है, क्योंकि - (१) वात्स्यायन ने *धर्म* पुरुषार्थ को काम से अधिक श्रेष्ठ माना है, काम को भी वे तभी ग्राह्य मानते हैं, जब वह धर्म संवलित हो।[२] (२) कामशास्त्र मूल रूप में *ऋग्वेद, अथर्ववेद* तथा कुछ उपनिषदों में पर्याप्त विकसित और प्रतिष्ठित दिखाई देता है, और *ऋग्वेद, अथर्ववेद* तथा उपनिषदों में लोकायत मत के अंग के रूप में इस शास्त्र का प्रतिपादन नहीं है; (३) वात्स्यायन ने कासू. के आरम्भ में ही लोकायतिकों के अपना पूर्वपक्षी मान कर उनके दर्शन का प्रबल प्रतिवाद किया है।

वार्डर[३] ने कामशास्त्र को सुख का शास्त्र ('the science of pleasure) भी कहा है।[१] उनके इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि वात्स्यायन कृति केवल आधुनिक अर्थ में यौनविज्ञान और कामसुख का ही प्रतिपादन करने वाली पुस्तक है, जब कि ऐसा नहीं है। कासू. के सात अधिकरणों में केवल दूसरे अधिकरण में ही चुम्बन आलिंगन आदि सम्भोग के पूर्व

और पश्चात् करणीय कृत्यों का निरूपण है, शेष अधिकरणों में पुरुषार्थ, कला, नागरक का जीवनशैली, पत्नी के कर्तव्य, वैशिक, अन्तःपुर आदि विषय प्रतिपादित हैं। वात्स्यायन का काम से आशय जीवन के सर्वांगीण रूप से सुन्दर बनाने वाले सारे तत्त्वों के समुच्चय से है, तदनुरूप एक आचारसंहिता भी वात्स्यायन प्रतिपादित करते हैं। कासू. के दूसरे अध्येताओं ने इसे हिन्दुओं का शृंगारित प्रेम का पाठ्यग्रन्थ (Hindu text book of erotic love) कहा है।[४] यह कथन भी उतना ही अनुचित है। कासू. एक सार्वलौकिक शास्त्रीय ग्रन्थ है, इसे किसी समाज विशेष से जोड़ कर देखना ठीक नहीं।

काम का मूल अर्थ संकल्प है। अपने बृहत्तर अर्थ में संकल्प जीवन को परिपूर्ण बनाने के लिये है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त तथा बृहदारण्यक (१।४।१।३) आदि उपनिषदों में काम इसी बृहत्तर अर्थ में सृष्टि के मूल तत्त्व के रूप में प्रतिपादित है। अपने सीमित अर्थ में भी काम को इसी बृहत्तर अभिप्राय से संवलित होना चाहिये। काम जीवन का उत्सव है, यौन संसर्ग उसका एक पक्ष है। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने चारों वेदों को नाट्य का स्रोत बताते हुए कहा है कि नाट्य की रचना के लिये ब्रह्मा ने अथर्ववेद से रस लिया। अथर्ववेद में ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिनका प्रतिपाद्य सीधे सीधे वात्स्यायन की कृति में प्रतिफलित हुआ है।

कासू. एक शास्त्र है। शास्त्र का प्रयोजनीयता दो तरह की होती है शंसन करने में और शासन करने में। वात्स्यायन एक निर्भीक समाजशास्त्री के रूप में समाज में काम से जुडे व्यवहार का शंसन करते हैं, उसके वे इन व्यवहारों को नियमन करने के लिये व्यवस्था भी देते हैं। ये व्यवहार नागरक की दिनचर्या, उत्सव, गोष्ठियों तथा अन्यान्य सांस्कृतिक कार्यकलापों से जुडे हुए हैं, अतः इन व्यवहारों में सौन्दर्यशास्त्र भी सम्पृक्त है। वात्स्यायन जीवन के वैविध्य और समग्रता में सौन्दर्य देखते हैं। प्रेम और स्त्रीपुरुष के दैहिक संसर्ग में यह वैविध्य और समग्रता होनी चाहिये। इसीलिये वे कहते हैं कि प्रेम भी वैचित्र्य का माँग करता है। वैचित्र्य के द्वारा अनुराग को पनपाया जा सकता है। धनर्वेद आदि शास्त्रों में भी वैचित्र्य की अपेक्षा रहती है, तो इस शास्त्र का तो कहना ही क्या[५]? मेरी समझ से वैचित्र्य के दोनों अर्थ यहाँ ग्राह्य हैं- सौन्दर्य भी और विविधता भी।

समग्र दृष्टि

वात्स्यायन में यह समग्र दृष्टि पुरुषार्थों के समन्वय से बनती है। अर्थ, काम और धर्म - ये जीवन के पुरुषार्थ हैं। ये जीवन के तीन स्तरों पर हासिल होते हैं - आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। तीनों पुरुषार्थ परस्पर अन्तर्निर्भर हैं, ये जीवन में सत्य, सुन्दर और शिव को मूर्त करते हैं। व्यक्ति का जीवन, समाज का जीवन और राष्ट्र का जीवन ये भी उसी तरह परस्पर अनुषक्त हैं।

कासू. का पहला ही सूत्र है - धर्मार्थकामेभ्यो नमः। वात्स्यायन जीवन के पुरुषार्थ को नमन करते हैं। काम का सम्बन्ध एषणा या प्रवृत्ति से है, निवृत्ति से वह सम्बद्ध नहीं सकता। इसलिये तीन पुरुषार्थों को ही वात्स्यायन ने नमन किया है। पर मोक्ष को वे अस्वीकार करते हों- ऐसा भी नहीं है। अन्यत्र उन्होने मोक्ष की पुरुषार्थ के रूप में चर्चा की है।

प्रवृत्तिमूलकता कर्म की अपेक्षा रखती है, कर्म पुरुषार्थसिद्धि का पथ प्रशस्त करता है। इसलिये वात्स्यायन जिस तरह निवृत्ति का निषेध करते हैं, उसी तरह वे लोकायतिकों के साथ नियतिवादियों के पूर्वपक्ष का भी खण्डन करते हैं।[६]

कासू. के सर्वप्रतिष्ठ व्याख्याकार यशोधर ने पूरे ग्रन्थ की संरचना की व्याख्या करते हुए कहा है कि इस शास्त्र में दो भाग हैं तन्त्र और आवाप। तन्त्र तकनीक या प्रयोग का प्रतिपादन करने वाला पक्ष हैं, आवाप उसके सिद्धान्तों और साधनों का।[७]

वाक्स्यायन ने काम को दो तरह से परिभाषित किया है- एक व्यापक अर्थ में, दूसरे उसरे सीमित अर्थ में। व्यापक अर्थ में काम जीवन की समग्रता का अंगीकार है। संसार के सभी विषयों में आत्मा से संयुक्त मन से अधिष्ठित इन्द्रियों की अनुकूल प्रवृत्ति काम है। इस दृष्टि से जीवन का हर व्यापार काम से प्रेरित व परिचालित है। साहित्य, कला और संस्कृति की सब प्रवृत्तियों और विकास का भी वही जनक है। सीमित अर्थ में स्त्री पुरुष के परस्पर दैहिक स्पर्श से होने वाली सुखानुविद्ध और फलवती अर्थप्रतीति काम है।[८]

ललितविस्तर में काम को धर्म का पुत्र कहा है, पुराणों में उसे ब्रह्मा का पुत्र बताया गया है। श्रीकृष्ण विभूति योग में कहते हैं-

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

प्रत्येक जीवधारी में विद्यमान यह काम भी ईश्वर का ही रूप है। अतः वात्स्यायन, कालिदास, भारवि आदि कवि पुरुषार्थ के जिस स्वरूप का प्रत्यय देते हैं, उसमें अर्थ और काम भी धर्मरूप ही हो जाते हैं। कालिदास अपने नायक के विषय में कहते हैं -

अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः।।

जिस तरह तीनों पुरुषार्थ एक दूसरे से जुडे हैं, और एक के बिना दूसरे की प्राप्ति सम्भव नहीं है, उसी तरह व्यक्ति और समाज भी परस्पर अनुषक्त हैं। समाजबाह्य और समाजविमुख कोई प्रेम या कोई कामसम्बन्ध उचित नहीं हो सकता। इसलिये वात्स्यायन नागरक को समाज के दायित्वों के परिप्रेक्ष्य में उसकी दिनचर्या का उपदेश देते हैं, यही बात वैशिक के अन्तर्गत गणिकाओं को दिये गये उनके उपदेश में भी है। वे गणधर्म या व्यक्ति की समूह के प्रति जिम्मेदारी की बात करते हैं। इसी सामाजिक परिप्रेक्ष्य में वात्स्यायन के सौन्दर्यशास्त्र पर विचार किया जाना चाहिये। इसमें उत्सव हैं। देवयात्रा या घटा में नागरक की सहभागिता है, यात्रा, उद्यानगमन, व विभिन्न आयोजन हैं। कलासमस्याएँ हैं, विदग्धगोष्ठियाँ हैं, कविता और कला पर विमर्श है।

नागरक

नागरक वात्स्यायन के प्रस्थान में केन्द्रीय भूमिका पर अवस्थित है। 'नागरक' का शाब्दिक अर्थ नगर का रहने वाला है। नागरिक का भी यही अर्थ है। दोनों ही शब्द नगर से निकले हैं। पर वात्स्यायन ने नागरक शब्द को किन्हीं विशिष्ट अभिप्रायों के साथ अपने शास्त्र में प्रतिष्ठित कर दिया है। यदि दो हजार साल की भारतीय कलापरम्परा व कविता की एक धारा में यह नागरक अपनी केन्द्रीय भूमिका के साथ उपस्थित है, तो इस बात का श्रेय वात्स्यायन को ही दिया जाना चाहिये। नागरक मात्र नगर का निवासी नहीं, वह परिष्कृत और अभिजात रुचि का प्रतीक है। कविता और कला की परम्परा में रसिक और विदग्ध उसी के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं, वैष्णव भक्ति परम्परा में तो नागर कृष्ण का भी पर्याय बन जाता है। काव्यशास्त्र में सहदय की अवधारणा भी कहीं न कहीं इस नागरक से जुड़ती है।

नागरक के आवास, उसके भीतर के कमरों की सज्जा, विभिन्न

उपकरण, प्रसाधन की सामग्री आदि का जो वर्णन वात्स्यायन ने किया है, वह उच्चवर्ग तथा मध्यवर्ग के भारतीय समाज की परिष्कृत जीवनशैली का परिचय देता है, व सौन्दर्यबोध की हमारी परम्पराओं का भी।

राजानक रुय्यक की *सहृदयलीला* नागरक के माध्यम से सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में कामसूत्र के प्रभाव का एक अच्छा निदर्शन है। राजानक रुय्यक अलङ्कारशास्त्र के प्रख्यात आचार्य के रूप में जाने जाते हैं, उनका *अलङ्कारसर्वस्व* अलङ्कारनिरूपण के क्षेत्र में समादृत है। *सहृदयलीला* उनका लघुग्रन्थ है, जिसमें मनुष्य के व्यक्तित्व में सौन्दर्याधायक तत्त्वों का निरूपण किया है। इन तत्त्वों का समुच्चय *उत्कर्ष* है। इस उत्कर्ष के होने से नागरिकता आती है। नागरिकता के द्वारा व्यक्ति विदग्ध या रसिक बनता है। *गुण*, *अलङ्कार, जीवित* (यौवन) तथा *परिकर* (सौन्दर्याभिव्यक्ति) इस उत्कर्ष के उपादान हैं। गुण दस हैं - *रूप*, *वर्ण, प्रभा, राग, आभिजात्य, विलासिता, लावण्य, लक्षण* (समुचित विन्यास), *छाया* तथा *सौभाग्य*।

चौंसठ कलाएँ

जीवन में प्रेम के अनुभव की सर्वांगीण अभिव्यक्ति तभी हो सकती है जब प्रेमी जन कलाओं का अभ्यास कर के उनमें प्रवीण हों। वात्स्यायन ने चौंसठ कलाओं का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं - गीत[१], वाद्य[२], नृत्य[३], आलेख्य[४], विशेषकच्छेद्य[५], तण्डुलकुसुमबलिविकाराः[६], पुष्पास्तरण[७], दशनवसनाङ्गराग[८], मणिभूमिकाकर्म[९], शयनरचन[१०], उदकवाद्य[११], उदकाघात[१२], चित्र योग[१३], माल्यग्रथनविकल्प[१४], शेखरकापीडयोजन[१५], नेपथ्यप्रयोग[१६], कर्णपत्रभङ्ग[१७], गन्धयुक्ति[१८], भूषणयोजन[१९], इन्द्रजाल[२०], कौचुमार योग[२१], हस्तलाघव[२२], विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया[२३], पानकरसरागासवयोजन[२४], सूचीवानकर्म[२५], सूत्रक्रीडा[२६], वीणाडमरुकवाद्य[२७], प्रहेलिका[२८], प्रतिमाला[२९], दुर्वाचकयोग[३०], पुस्तकवाचन[३१], नाटकाख्यायिकादर्शन[३२], काव्यसमस्यापूरण[३३], पट्टिकावानवेत्रविकल्प[३४], तक्षककर्म[३५], तक्षण[३६], वास्तुविद्या[३७], रूप्यपरीक्षा[३८], धातुवाद[३९], मणिरागाकरज्ञान[४०], वृक्षायुर्वेदयोग[४१], मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि[४२], शुकसारिकाप्रलापन[४३], उत्सादन, संवाहन और केशमर्दन में कौशल[४४], अक्षरमुष्टिकाकथन[४५], म्लेच्छितविकल्प[४६], देशभाषाज्ञान[४७], पुष्पशकटिका[४८], निमित्तज्ञान[४९], यन्त्रमातृका[५०], धारणमातृका[५१], सम्पाठ्य[५२], मानसीकाव्यक्रिया[५३],

अभिधानकोश[५४], छन्दोज्ञान[५५], क्रियाकल्प[५६], छलितकयोग[५७], वस्त्रगोपन[५८], द्यूतविशेष[५९], आकर्षक्रीडा[६०], बालक्रीडनक[६१], वैनयिकी[६२], वैजयिकी[६३] तथा व्यायामिकीना विद्याओं का ज्ञान[६४]।

यशोधर ने चतुःषष्टि कलाओं की एक अन्य परम्परा का संग्रह करते हुए उन कलाओं को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा है - (१) *कर्माश्रय* - गीत, नृत्य,वाद्य आदि; (२) *द्यूताश्रय*- इनके सजीव और निर्जीव दो वर्ग हैं। पहले वर्ग में द्यूत, पाँसा आदि और दूसरे में कुक्कुटयुद्ध मेषयुद्ध आदि आते हैं। (३) *शयनोपचारिका*- प्रेमी और प्रेमिका की अन्तरंग क्रीडाओं से सम्बद्ध हैं। (४) *उत्तरकला* - क्र० ३ की क्रीडाओं की प्रतिक्रिया में की जानी वाली क्रीडाएँ।

वात्स्यायन के द्वारा उल्लिखित चतुःषष्टि कलाओं में अनेक कलाएँ सौन्दर्यशास्त्र से सम्बन्धित हैं। गीत, वाद्य, नृत्य उदकवाद्य, वीणाडमरुकवाद्य, नाटकाख्यायिकादर्शन- ये प्रदर्शनकारी कलाओं के अन्तर्गत हैं, तो आलेख्य, विशेषकच्छेद्य, तण्डुलकुसुमबलिविकार, पुष्पास्तरण, दशनवसनाङ्गराग, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचन, चित्रयोग, माल्यग्रथनविकल्प, शेखरकापीडयोजन, नेपथ्यप्रयोग, कर्णपत्रभङ्ग, गन्धयुक्ति, भूषणयोजन, इन्द्रजाल, पट्टिकावानवेत्रविकल्प, तक्षककर्म, तक्षण, वास्तुविद्या, रूप्यपरीक्षा, धातुवाद, मणिरागाकरज्ञान आदि ललितकलाओं तथा शिल्प से सम्बन्धित हैं। प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोग, पुस्तकवाचन, काव्यसमस्यापूरण, अक्षरमुष्टिका आदि साहित्य से सम्बन्ध रखती हैं। उस काल की साहित्यिक या कलात्मक प्रवृत्तियों का भी इनसे परिचय प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये - यशोधर ने *अक्षरमुष्टिका* (क्र० ४५) पर विस्तार से विचार किया है। यह कूटकाव्य का एक प्रकार है। कविता में अक्षरों का मुष्टि बन जाना अक्षरमुष्टिका है। यह दो प्रकार की होती है- *साभासा* और *निराभासा*। पहली में कूट या पहेली के समाधान का संकेट भी उसी वाक्य में दिया होता है, दूसरी में यह संकेत अनुपस्थित होता है। *साभासा अक्षरमुष्टिका* के उदाहरण में यशोधर ने आचार्य रविगुप्त के *चन्द्रप्रभाविजयकाव्य* से यह उदाहरण दिया है -

मेवृकसिंकतुवृधमकुंमी मूधसबांसुशकनिधकाव्याः।
फाचैवैज्येआश्राभाआकामाफौफा चैव।।

प्रथम पाद में राशियों का व दूसरे पाद में महीनों का परिगणन किया

गया है।

म्लेच्छितविकल्पाः (सं० ४६) कूट भाषा है। *यन्त्रमातृका* (सं० ५०) का स्वरूप यशोधर ने यह बताया है - विश्वकर्मा के द्वारा प्रोक्त सजीव और निर्जीव यन्त्रों की रचना। -(सजीवानां निर्जीवानां यन्त्राणां यानोदकसङ्ग्रहार्थं घटनाशास्त्रं विश्वकर्ममप्रोक्तम्)।

छलितकयोगाः (सं० ५७) का सीधा सम्बन्ध नाट्यविधा से है। यशोधर ने इसका लक्षण देते हुए कहा है -

यद् रूपमन्यरूपेण सम्प्रकाश्य हि वञ्चनम्।
देवेतरप्रयोगाभ्यां ज्ञेयं तच्छलितं यथा।

देश के अनेक अंचलों में बहुरूपिया नाम से नाट्यरूप इसी का परम्परा में आता है।

शिवत्व

कालिदास के कुमारसम्भव में बटुवेशधारी शिव तपोनिरत पार्वती से कहते हैं - यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः- रूप पाप के लिये नहीं हो सकता। पार्वती का रूप तभी शिव के सान्निध्य में सार्थक होता है। वात्स्यायन के प्रस्थान में काम का सम्बन्ध भी शिवत्व से है। अगम्याप्रकरण में वे किन किन स्त्रियों से कामसम्बन्ध वर्जित है यह प्रतिपादित करते हैं।[७]

पारदारिक प्रकरण में वात्स्यायन ने राजाओं , मन्त्रियों आदि के लिये स्पष्ट निर्देश दिया है कि वे भूल कर भी पारदारिक के प्रपंच में न पड़ें। पारदारिक के योग तो असंख्य हैं, राजा व सामन्त उनका प्रयोग भी करते रहे हैं। पर लोक का हित करने की इच्छा वाला राजा इनका प्रयोग न करे। उसे तो काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मत्सर इन छह शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना है, तभी वह धरती पर विजय पा सकेगा।[८]

फिर प्रश्न आता है कि वात्स्यायन ने ये योग बताये क्यों हैं? इसके उत्तर में बार बार वात्स्यायन ने यही बात कही है कि शास्त्र के अधिकार के अन्तर्गत ये योग बताये गये हैं। यह शास्त्र की शंसन विधि है, यह अनुशंसा नहीं है। शास्त्र में जो जो शंसन है, वह सब प्रयोग में भी अपनाया जाय, तो अनर्थ हो जायेगा। शास्त्रार्थ व्यापक हैं, और प्रयोग एकदेशिक। आयुर्वेद में कुत्ते के मांस के भी गुण बताये जाते हैं, पर इससे वह शिष्ट जनों के लिये खाद्य नहीं हो जाता।[९]

वात्स्यायन अन्त में यहाँ तक कहते हैं कि उन्होने स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन कर के समाधि की स्थिति में यह शास्त्र लिखा है, इसका प्रयोजन राग या वासना को बढाना नहीं है बल्कि उसे नियन्त्रित करना है। इस शास्त्र को पढ कर व्यक्ति जितेन्द्रिय हो सकता है।[१०]

यह विरोधाभास लग सकता है कि जो वास्त्यायन काम को जीवन का मूल स्वीकार करते हैं, वे ही उस शास्त्र को भी स्वीकार कर रहे हैं, जिसमें काम की गणना अरिषड्वर्ग में की गई हे। धर्माविरुद्ध काम जीवन में इष्ट है, वही धर्मविरुद्ध हो तो अनिष्ट हो जाता है।

वात्स्यायन ने विवरण तो समलैंगिकता, व अन्यान्य असामान्य व्यवहारों का भी दिया है।[११] पर उनकी अनुशंसा नहीं की है। यह शंसन मात्र है,. शासन नहीं।

सत्य, शिव और सुन्दर

वात्स्यायन के स्त्री विमर्श में सुन्दर को शिव और सत्य से जोड़ने का उनका उपक्रम स्पष्ट प्रतिफलित हुआ है। यह सत्य है कि सारे शास्त्र पुरुषवादी दृष्टि से लिखे गये हैं। पर इन शास्त्रकारों में वात्स्यायन ने नारी मन को जितनी सहानुभूति से परखा है, वह केवल कालिदास, बाण, भवभूति जैसे इने गिने कवियों में ही मिलती है। यह स्वाभाविक ही है कि स्त्री के विषय में कहे गये उनके वचनों या निर्देशों की अनुगूँज इन कवियों में सुन पड़े। उदाहरण के लिये –

कुसुमसधर्माणि हि योषितः सुकुमारोपक्रमाः। तास्त्वनधिगतविश्वासैः प्रसभमुपक्रम्यमाणाः सम्प्रयोगद्वेषिण्यो भवन्ति। तस्मात् साम्नैवोपचरेत्।। (कासू० ३।२।६)

(स्त्रियाँ फूल की रह कोमल होती हैं। उन्हें बिना विश्वास में लिये जोर जबरजस्ती करने पर वे हमेशा के लिये पुरुष संसर्ग से विमुख हो सकती हैं। इसलिये स्त्री के प्रति साम के साथ उपचार किया जाना चाहिये।

उपचार शब्द यहाँ जिस विशिष्ट अर्थ में है वह भरतमुनि के नाट्यशास्त्र व कालिदास में खुलता है।

कामसूत्र के अनुवादकों में डोनिगर और काकर ने जहाँ एक ओर वात्स्यायन को कुछ प्रकरणों में बलात्कारी मानसिकता से प्रेरित पाया है, वहाँ

यह भी स्वीकार किया है कि वात्स्यायन ही हैं, जो स्त्री को मात्र विषय नहीं, विषयी के रूप में भी प्रस्तुत करते हैं।

वात्स्यायन स्त्री और पुरुष में परस्पर विश्वास, प्रेम और सौहार्द को परम काम्य मानते हैं। स्त्री पुरुष के बीच सख्य या बान्धव भाव के सम्बन्ध को भी वात्स्यायन, कालिदास, बाण और भवभूति ने जिस तरह समझा है, वह हमारी शास्त्रपरम्परा और काव्यपरम्परा दोनों में अन्यत्र दुर्लभ है। स्त्री-पुरुष के बीच निर्विकार सौहार्द्र के सम्बन्ध को वात्स्यायन ने योषिन्मैत्री नाम दिया है।[१२]

उनके विवाह के निरूपण में धर्मशास्त्र के दृष्टिकोण से इसीलिये भेद है। जो कन्या से अनुरक्त हो उसी वर को वरीयता दी जानी चाहिये। इसी लिये वात्स्यायन कहते हैं कि भले ही धर्मशास्त्र की दृष्टि से गान्धर्व विवाह का स्थान नीचे हो, सुखकारक, क्लेशरहित और अनुरागात्मक होने के कारण सारे विवाहों में गान्धर्व को प्रवर माना जामना चाहिये।[१३] वे तो विवाहित स्त्री तक को सलाह दे देते हैं कि पति से प्रेम न मिले, तो जिस से प्रेम मिल सके, उसके पास चली जाये। जिसके पास चित्त की अनुकूलता प्रतीत हो, उसी के पास रहना उचित है।[१४] पुनर्भू या दूसरा विवाह करने वाली विधवा या सधवा स्त्री को वात्स्यायन ने जितनी उदार दृष्टि से पहचान दी है, वह भी हमारी शास्त्र परम्परा में अन्यत्र नहीं है। एक और कुछ धर्मशास्त्रकारों की पाँत है जो कहते हैं कि चाहे कुष्ठग्रस्त हो या नपुंसक हो, पति की सेवा करना ही स्त्री का परम धर्म है। दूसरी ओर अकेले वास्त्यायन हैं, जो प्रेम को सर्वोपरि प्रतिष्ठित करते हैं।

नाट्यशास्त्र से सम्बन्ध

नाट्यशास्त्र कला, रंगमंच और नाटक का विश्वकोशात्मक ग्रन्थ है। इसकी रचना भी लगभग उसी समय हुई, जब वात्स्यायन का कामसूत्र रचा गया। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि कामशास्त्र के सिद्धान्तों से सुपरिचित हैं। जिस तरह वात्स्यायन अपने शास्त्र का कलाओं के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार भरतमुनि अपने शास्त्र का कामशास्त्र के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। बाईसवें और तेईसवें अध्यायों में तो स्पष्ट ही कामशास्त्र के अनेक प्रकरण समाविष्ट हैं। *धर्मकाम, अर्थकाम* और *मोक्षकाम* ये तीन प्रकार उन्होने काम के निरूपित किये हैं,। इस निरूपण में काम को ले कर वही व्यापक दृष्टि है, जो वात्स्यायन की है। *अर्थानर्थसंशयानुबन्धविचार* के

अन्तर्गत[१५] वात्स्यायन ने भी धर्म काम और अर्थ काम की अवधारणा सामे रखी है, मोक्षकाम के लिये अवश्य उनके यहाँ अवकाश नहीं है।

वात्स्यायन और भरतमुनि दोनों स्त्री पुरुष के सम्बन्ध को परिभाषित करने के लिये उपचार शब्द का प्रयोग करते हैं। कालिदास ने भी उपचारविधि का वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र (२२।१४६-१५१) में जो उपचार विधियाँ प्रतिपादित की गईं है, उनका प्रभाव कालिदासादि कवियों और वात्स्यायन के बाद के कामशास्त्रकारों पर स्पष्ट देखा जा सकता है। यही स्थिति वात्स्यायन और भरत मुनि के नायक नायिका भेद के निरूपण की है। वात्स्यायन ने कन्या, पुनर्भू और वेश्या ये तीन प्रकार की नायिकाएँ निरूपित की हैं, साहित्यशास्त्र की परम्परा में *स्वकीया, परकीया और सामान्या* ये तीन भेद इन्हीं के आधार पर मान्य हुए हैं- ऐसा अनुमान किया जा सकता है। वात्स्यायन के अनुयायियों ने तो स्त्री को विषय के रूप में ही देखते हुए *पद्मिनी, चित्रिणी, शङ्खिनी* तथा *हस्तिनी* जैसे नायिकाभेद निरूपित किये हैं, और संस्कृत में शृंगारकाव्य की एक संकीर्ण धारा है, जिस पर इस तरह के लक्षणों का प्रभाव भी हुआ। धनिक ने अपने दशरूपकावलोक में नायिकाभेद के प्रसंग में कामसूत्रकार वात्स्यायन का स्मरण किया है।

कामसूत्र की परम्परा में प्रेमी और प्रेमिका के बीच सम्प्रेषण की नितान्त वैयक्तिक भाषा को संकेत के द्वारा परिभाषित किया गया। वात्स्यायन के अनुयायियों में पद्मश्री ज्ञान जैसे ग्रन्थकारों ने संकेत का विस्तार निरूपण किया है, तथा व्यंजक शब्द, आंगिक भाषा, उपचार, माल्य, ताम्बूल व वस्त्र आदि का समर्पण- ये इसके प्कार बताये हैं। भरतमुनि ने नाशा० २२।१५८ में काम के दस कारण निरूपित किये हैं। प्रेम में व्यक्ति की जो चेष्टाएँ व स्वभावपरिवर्तन होता है, उसका निरूपण सूक्ष्म दृष्टि से उन्होने किया है।

भरतमुनि ने दस कामावस्थाएँ बताईं हैं- - *अभिलाष, चिन्तन, अनुस्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद,* व्याधि, *जडता* तथा *मरण* (नाशा० २२।१६९-१९४)। साहित्यशास्त्र तथा नायकनायिका भेद पर ग्रन्थ रचना करने वाले अनेक आचार्यों ने इन कामावस्थाओं का वर्णन किया है। वात्स्यायन ने भी काम की दस अवस्थाएँ प्रतिपादित की हैं (कासू० २।१०।३४, ५।१।५)। यह कहना कठिन है कि वात्स्यायन भरत के ऋणी हैं, या भरत वात्स्यायन के।

प्रच्छन्नकामित (नाशा० २२।२०१-२०७) बाह्यस्त्रीभोग (नाशा० २२।१५४), वासक आदि पारिभाषिक शब्द नाट्यशास्त्र ने दिये हैं। वासक के छह प्रकार बताये गये हैं (नाशा० २२।२०९) वात्स्यायन ने भी वासक शब्द का प्रयोद इसी अर्थ में किया है, पर उसके भेदोपभेदों ता प्रतिपादन उनमें नहीं है।

नाशा० के तेईसवें अध्याय में वैशिक निरूपण है। कासू० का षष्ठ अधिकरण वैशिक है। भरत उक्त अध्याय में दस प्रकार की दूतियाँ बताईं हैं (२३। ९-१०) प्रेम की विविध अवस्थाओं का वर्णन (२३।१८-३४) या यौवन की चार अवस्थाओं का निरूपण है (नाशा० २३।४३-५१)।

गरिमा, मसृणता और ताटस्थ्य

वात्स्यायन ने प्रीति के चार प्रकार बताये हैं। आभ्यासिकी, आभिमानिकी, सम्प्रत्ययात्मिका तथा विषयात्मिका। इनमें विषय और विषयी का द्वैत भी है अद्वैत भी। गरिमा के साथ मसृणता है और ताटस्थ्य है। उन्होने अपनी सारी परिभाषाएँ वास्तविक जीवन से उठाईं हैं, प्रेमी और प्रेमिका के व्यवहार में जो सत्य, शिव और सुन्दर है वे उसको परिभाषित करते हैं। उनके आलिंगन और चुम्बन के भेदों के नाम ही इस गरिमा, सौकुमार्य और मसृणता के परिचायक हैं, जैसे - *स्पृष्टक, लतावेष्टितक, वृक्षाधिरूढक, तिलतण्डुलक* या *नीरक्षीरक*। प्रेम अपनी अनन्यता मे द्वैत से आरम्भ हो कर किस तरह अद्वैत तक पहुँचता है - यह इन की परिभाषआओं से स्पष्ट है।

कुल मिला कर शास्त्र का जीवन के सहज प्रवाह से सम्बन्ध, धर्म, परम्परा और मर्यादा से उसके अनुकूलन के कारण सौन्दर्यशास्त्र के जो मानक वात्स्यायन ने प्रस्तुत किये हैं, अभी भी ग्राह्य हैं।

पादटिप्पणियाँ

१-*Indian Kavya Literature*, vol. I: 1989: para 24

२- कासू. १।२।१४-१५

३-*Indian Kavya Literature*, vol. I: 1989: para 24

२- Kamsutra- Vatsyayana, Trans. by Doniger and Kakar , Oxford University Press, 2003

३-भवति हि रागेऽपि चित्रापेक्षा। वैचित्र्याच्च परस्परं रागो जनयितव्यः। वैचक्षण्ययुक्ताश्च गणिकास्तत्कामिनश्च परस्परं प्रार्थनीया भवन्ति। धनुर्वेदादिष्वपि

हि शस्त्रकर्मशास्त्रेषु वैचित्र्यमेवापेक्ष्यते किं पुनरिहेति वात्स्यायनः।। (कासू. २।४।२५)

४- कासू० १।२।२१-३५

५--कासू० १।१।२३ पर यशोधरकृत जयमङ्गला।

६-श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसा ऽधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः। स्पर्शविशेषविषयात्त्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धा फलवत्यर्थप्रतीतिः प्राधान्यात् कामः ।। (कासू० १।२।११-१२)

शरीरस्थितिहेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामाः। फलभूताश्च धर्मार्थयोः।। (वही, १।२।३७)

७- अगम्यास्त्वैताः- कुष्ठिन्युन्मत्ता पतिता भिन्नरहस्या प्रकाशप्रार्थिनी गतप्राययौवनातिश्वेतातिकृष्णा दुर्गन्धा सम्बन्धिनी सखी प्रव्रजिता सम्बन्धिसखिश्रोत्रियराजदाराश्च। (वही, १।५।२९)

८-एते चान्ये च बहवः प्रयोगाः पारदारिकाः।
देशे देशे प्रवर्तन्ते राजभिः सम्प्रवर्तिताः।। ३६।।
न त्वैवेतान् प्रयुञ्जीत राजा लोकहिते रतः।
निगृहीतारिषड्वर्गस्तथा विजयते महीम्।।३७।।(वही, ५।५।३६-३७)

९- धर्ममर्थं च कामं च प्रत्ययं लोकमेव च।
पश्यत्येतस्य तत्त्वज्ञो न च रागात् प्रवर्तते।।
अधिकारवशादुक्ता ये चित्रा रागवर्धनाः।
तदनन्तरमत्रैव ते यत्नाद् विनिवारिताः।।
न शास्त्रमस्तीत्येतेन प्रयोगो हि समीक्ष्यते।
शास्त्रार्थान् व्यापिनो विद्यात् प्रयोगांस्त्वेकदैशिकान्।।
(वही, ७।२।५३-५५)

१०-तदेतद् ब्रह्मचर्येण परेण च समाधिना।
विहितं लोकयात्रार्थं न रागार्थोऽस्य संविधिः।। ५७।।
रक्षन् धर्मार्थकामानां स्थितिं स्वां लोकवर्तिनीम्।
अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवत्येव जितेन्द्रियः।। ५८।।
तदेत् कुशलो विद्वान् धर्मार्थाववलोकयन्।।

३४/नाटचम्-५२

नातिरागात्मकः कामी प्रयुञ्जानः प्रसिद्ध्यति।।

(वही, ७।२।५७-५९)

११- वही, २।९।३५-३७

१२- रजक-नापित-मालाकार-गान्धिक-सौरिक-भिक्षुक-गोपालक-ताम्बूलिक-सौवर्णिक-पीठमर्द-विट-विदूषकादयो मित्राणि। तद्योषिन्मित्राश्च नागरकाः स्युरिति वात्स्यायनः।। वही, १।५।३४।।

१३- गुणसाम्येऽभियोक्तृणामेको वरयिता वरः।
तत्राभियोक्तरि श्रैष्ठ्यमनुरागात्मको हि सः।

(वही, ३।४।५५)

व्यूढानां हि विवाहानामनुरागः फलं यतः।
मध्यमोऽपि हि सद्योगो गान्धर्वेस्तेन पूजितः।।
सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिह।
अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरो मतः।।

(वही, ३०।।३।५।२९-३०)

१४-(आत्मनश्चित्तानुकूल्यादिति वात्स्यायनः, वही, ४।२।३५

१५-वही, ६।६

सन्दर्भ ग्रन्थ

कामसूत्र के संस्करण/ अनुवाद

(१) कामसूत्र मूल अंग्रेजी अनुवाद - राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली २००५

(२) यशोधरकृत जयमङ्गलासहित पं० दुर्गाप्रसाद द्वारा सम्पादित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १८८७

(३) यशोधरकृत जयमङ्गलासहित पं० दामोदर शास्त्री द्वारा सम्पादित, काशी संस्कृत सीरीज, बनारस, १९२९

(४) यशोधरकृत जयमङ्गलासहित हिन्दी अनुवाद पं० देवदत्त शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९९९

(5) Vātsyāyana : Kāmasūtra- (Oxford World Classics Series)- trans. by Wendy Donifer and Sudhir Kakar, 2003.

अन्य ग्रन्थ

१-अथर्ववेद- Trans. into English by William Dwight Whitney, revised by Charles

2-Rockwell Lanman, Harvard Oriental Series. reprint Motilal Benarasidas, New Delhi, 1993.

३-दशरूपक- धनञ्जय Eng. translation by George C.O.Haal, Motilal Benarasidass, New Delhi, 1962.

४-नाट्यशास्त्र - अभिनवभारती,सहित, वडोदरा से प्रकाशित।

५-मनुस्मृति- कुल्लूकभट्टकृत *मन्वर्थमुक्तावलीसहित, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली २०००*

६-सहृदयलीला- राजानक रुय्यक; काव्यमाला गुच्छक - ४

---OOO---

लव की लड़ाई

(उत्तररामचरित के चौथे अंक पर आधारित बाल नाटक)

राधावल्लभ

(आश्रम का दृश्य। कई बालक ब्रह्मचारियों के वेश में मंच के अलग अलग समूहों में बैठे वेदपाठ पूजा सन्ध्या वंदन करते दिखाई देते हैं। इनमें से एक समूह इस मंत्र का पाठ करेगा)

अभयं न करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु।
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।।

(समूह का प्रस्थान। बालक १ और २ ब्रह्मचारियों के वेष में आते हैं)

दोनों -

हम नमन करें उगते सूरज को
सूरज नहीं है यह
यह है चमकीला पहिया
जो खींच रहा है समय की गाड़ी को
आगे और आगे
गाड़ी दौड़ रही है
आगे और आगे
हम सब उसके
पीछे पीछे भागें

आओ दौड़ें

आओ भागें।

(दोनों मंच पर तेज तेज चक्कर लगाते हैं)

बालक १- - आज तो बड़ा आनंद आ गया भैया! सबेरे सबेरे ही --- देखो तो हमारे गुरुजी का यह आश्रम किता सुहावना लगने लगा।

बालक २- - क्यों पढाई से छुट्टी मिल गई इसलिये?

बालक -१ नहीं - बड़े बड़े अतिथि आ गये - उनके स्वागत में आश्रम सज उठा है। और उधर देखो भोजनशाला में - कितनी तरह के पकवान बन रहे हैं-

बालक २- - हाँ- कितनी अच्छी गंध आ रही है - क्या पक रहा होगा?

बालक १- भात और बढिया तरकारी - वह देखो माताजी भात से माँड निकाल कर हिरन को पिला रही हैं-

बालक २ -(दूर दिखाता हुआ) - पी रहा है - पी रहा है - - देखो कैसा छक कर पी गया -

(एक तपस्विनी हिरन को मिट्‌टी के सकोरे से मँड पिलाती हुई पीछे दिखाई देती है। बालक १ और २ उछलते कूदते हैं)

बालक १- - भैया, आये कौन हैं ये अतिथि हमारे आश्रम में - जिनके आने से ऐसी धूम धाम है -

बालक २- अरे तुम नहीं जानते?

बालक १ - ना- भैया हमने तो देखा - एक बहुत लंबी सफेद डाढी वाले - उनके साथ दूसरे और लंबी डाढी वाले -

बालक २ - अरे अरे आश्रम में अतिथि आये हैं और तुम ऐसा बोल रहे हो- पता है कौन लोग हैं वे?

बालक १ - कौन लोग हैं?

बालक २ - देखो एक थे राजा दशरथ-

बालक १- हाँ थे - वो तो हमने गुरुजी की रची रामायण में पढा है...

बालक २ - उनके तीन रानियाँ थीं -

बालक १ - अरे तुम से पूछा कि कौन अतिथि आये हैं और तुम पढाने लग गये हम को रामायण!

बालक २ - रामायण नहीं पढा रहे हैं - तुम्हें पता भी है कि वे तीनों की तीनो रानियाँ हमारे गुरु महर्षि वाल्मीकि के इस आश्रम आज आई हुई हैं?

बालक १ - ओह् हो - न भैया हम ठहरे गाँव- गिराँव के रहने वाले - गाँव से पढने आ गये इस आश्रम में - हम कैसे पहचानेगें - अच्छा वो जो लंबी लंबी सफेद डाढी वाले हैं, - वे कौन हैं?

बालक २ - वे हैं महर्षि वसिष्ठ - इनके साथ हैं देवी अरुंधती -- बड़े बड़े ऋषि लोग हैं भाई-

बालक १ - उनके साथ एक और बूढे महाशय हैं - बहुत गंभीर और दुखी दुखी दिखते हैं - वे कौन हैं ?

बालक १ - अच्छा - राजा जनक का कह रहे हो- वे जो माता सीता के पिता हैं -

बालक २ - अच्छा वे भी यहाँ आ गये! -

बालक १ - हाँ भाई - सीता माता हैं उनकी बेटी - उनको राजा राम ने निकाल दिया - तो तब से बिचारे दुखी हो कर संन्यासी हो गये। अब संन्यासी हो गये तो अपने आश्रम में मन न लगता होगा। तो यहाँ आ गये हमारे गुरुजी महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में।

बालक २- और ये राजा दशरथ जी की रानियाँ - ये यहाँ कैसे आईं हैं -

बालक १- बहुत बड़ा यज्ञ चल रहा था बारह साल से ऋष्यशृंग ऋषि के यहाँ। वह समाप्त हुआ तो ये रानियाँ वहाँ से हमारे आश्रण में आयीं हैं...

(नेपथ्य से कोलाहल, कई आवाजें। दूर से आती नेपथ्य से घोड़े की हिनहिनाहट। कई बच्चे अपने अपने स्थान से उठ कर इधर इधर भागते दिखाई देते हैं)

बालक १ - तुमने सुना कैसी आवाज थी?

बालक २ - कुछ विचित्र ही तरह की -

बालक १ - *(देख कर)* अरे कुछ विचित्र नहीं - ये बूढे लोग खाँसते खँखारते चले आ रहे हैं -*(खाँसने की नकल करता है और हँसता है)*

बहुत जोर जोर से खाँसते है भाई- लग रहा है कि धरती फट जायेगी - आकाश गिर पड़ेगा -

बालक २ - ओह, तो यह कोलाहल इन्ही लोगों का है -

बालक १ - देखो तो कैसा हल्ला मचा दिया - बड़े बूढे हो कर --इतना कोलाहल करना-- आश्रम की शांति टूट गई- गुरुजी कहते हैं पढाई के लिये शांति होना चाहिये ऐसा हो हल्ला करेगें ये लोग, तब तो हो चुकी हमारी पढाई - पता नहीं कितने दिन रहेगें ये लोग यहाँ -

बालक २ - ऐसा मत कहो दुखी हैं वे--

बालक २- अच्छा ??- किस बात का दुख?-

बालक १- दुःख इस बात का कि सीता देवी के विषय में लोगों ने यों ही कुछ उल्टा सीधा कह दिया और महाराज राम ने सीता को छोड़ दिया। बारह साल बीत गये। सीता का कहीं पता नहीं। महाराज दशरथ की ये तीनों रानियाँ - ये तो राजधानी में जाना ही नहीं चाहतीं - तभी तो यहाँ आ गईं हैं -लो ये लोग इधर ही आ रहे हैं -

(जनक, कौसल्या, अरुंधती का प्रवेश। मंच पर एक पार्श्व में जनक, कौसल्या और अरुंधती तथा दूसरे पार्श्व में बालक एक और बालक दो रहेगें।

कौसल्या - उस आश्रम से इस आश्रम में कितना अंतर है देवि अरुंधती! वहाँ तो सदा यज्ञ चलता रहता था - बच्चों का मुख देखने को तरस गये - और यहाँ - कितने प्यारे बच्चे जहाँ देखो वहाँ-

अरुंधती - यही तो महत्ता है महर्षि वाल्मीकि की - उन्होने आसपास से वनग्रामों से कितने बालकों को अपने आश्रम में आसरा दिया है- वे इनका भरण पोषण करते हैं - इन्हें शिक्षा देते हैं -

कौसल्या - कितना मीठा गाते हैं बच्चे!

अरुंधती - महाराज आप कहाँ मगन हैं- आप सुन नहीं रहे हैं - यहाँ कहीं वेदपाठ तो कहीं रामायण का गान -

जनक - मेरे लिये तो सारी रामायण समाप्त हो गई - मेरी बेटी - अब

कहने को क्या रहा -

कौसल्या - दुख तो हम सब को है महाराज - हम तीनों ने तो प्रण ले लिया कि सीता जिस अयोध्या में नहीं है वहाँ हम जायेगें ही नहीं।

(घोड़े की हिनहिनाहट। दूर से आता कोलाहल)

बालक २ - सुनो वह कोलाहल ....

बालक १ -कौन सा कोलाहल?

बालक १- वह अभी भी आ रहा है - कोई बात है - कुछ और बात है -

बालक २- क्या कहना चाहते हो?

बालक १- इन लोगों की खाँसी के स्वर नहीं थे वे जो हम सुने थे अभी - कुछ विचित्र से स्वर हैं

बालक २- ठीक कहते हो - ऐसा स्वर हमने यहाँ कभी नहीं सुना -

(नेपथ्य से - सुनो, सुनो यह जो घोड़ा है--)

बालक १ - कुछ सुनाई दिया?

अरुंधती - - आपको कुछ सुनाई दिया?

जनक - मैंने तो सब देखना सुनना बंद कर दिया देवी! अब देखने सुनने को क्या रहा?

कौसल्या - कुछ कोलाहल सा लगता है - आश्रम में ऐसा कोलाहल कैसे हो सकता है?

अरुंधती - मुझे लगता है आश्रम में नहीं हो रहा है यह कोलाहल - - आश्रम के बाहर कहीं है --

(कोलाहल बढता है - कुछ शब्द दूर से हवा में तैर कर आते हुए-

यह जो घोड़ा है -
सुनो सुनो यह जो घोड़ा है -

यह अश्वमेध का घोड़ा है -)

महाराज राम ने इसको छोड़ा है

बालक १ - तुमने कुछ सुना - कितनी डरावनी ध्वनि है? चलो भाग चलें कहीं -

बालक २ - डरो मत - हाँ कुछ विचित्र सा स्वर तो है -

बालक १ - स्वर ही नहीं शब्द भी - तुमने कभी सुना किसी को ऐसा कहते हुए कोई कह रहा है कि यह जो घोड़ा है-

बालक २- हाँ कुछ ऐसा ही मैंने भी सुना--

बालक १- ये घोडा क्या होता है?

बालक २- मैने सुना तो नहीं - पर पढा है - घोड़ा होता है एक प्राणी

(मंच के बीच से भागते उछलते कूदते हुए बालक ३,४,५ एक साथ आते हैं। पहले पार्श्व में जनक, कौसल्या, अरुंधती भी इन्हें देख सुन रहे हैं और दूसरे पार्श्व में खड़े दोनों बालक भी)

बालक ३- तुमने देखा कितनी बड़ी बडी आँखें थीं-

बालक ४- हाँ और पूँछ तो देखो उसकी --

कौसल्या - कितने प्यारे बच्चे हैं -

अरुंधती - किसकी बातें कर रहे हैं ये बच्चे?

जनक - जैसे इन्होने देख लिया हो कोई अजूबा -

बालक १- किसकी बातें कर रहे हो तुम लोग?

कौसल्या - पता नहीं चर्चा कर रहे हैं ये बच्चे?

अरुंधती - पता नहीं - जैसे कोई बड़ा अद्भुत दृश्य देख लिया है - देखो तो कैसा अचरज का भाव उनके मुख पर सब के सब ऐसे हड़बड़ाये हुए -

जनक - अब बच्चे ही तो हैं -

बालक ३,४,५- अरे दादा बड़ा अद्भुत प्राणी है -

बालक ३- ये समझो कि हिरन से भी बड़ा, यहाँ तक कि सिंह से भी

बड़ा--समझ लो हाथी के बराबर--

बालक ४- अरे न रे, हाथी के बराबर न होगा

बालक ३ - हा हाँ हाथी से बड़ा ही होगा -

बालक ४- तू ने देखा भी है कभी हाथी - बात करता है -हाथी सबसे बड़ा होता है!

बालक ३- अच्छा-- किसने कहा?

बालक-४- मुझ से लव भैया ने कहा है -

बालक ३- जैसे लव भैया तो सब कुछ जानते हों -

बालक ४-- क्यों नहीं जानते - उन्होने चारो वेद और व्याकरण और रामायण सब कंठस्थ हैं -

बालक १- है किधर वह प्राणी?

बालक ३,४,५- (सामने बताते हुए) अरे वह रहा उधर --

बालक १- अरे हाँ लगता है वह इधर ही आ रहा है -

बालक २- भैया कहीं हमें खा तो न जायेगा -

बालक ३,४,५ - अरे ऐसा कहीं हो सकता है - आश्रम में कोई पशु किसी बच्चे को हानि नहीं पहुँचाते -

बालक १,२ - हम लोग जा कर देखते हैं -

(दोनों सावधानी से एक एक पग बढाते हुए मंच का चक्कर लगा कर प्रस्थान करते हैं। (नेपथ्य से घोड़े की हिनहिनाहट तीव्र से तीव्रतर होती हुई)

बालक ५- तुमने सुना?

बालक ३ और ४ - क्या?

बालक ५- कितना तीखा स्वर है -

(कौसल्या, जनक और अरुंधती सुनने का अभिनय करते हैं। उनके संवादों के बीच बच्चों का मूकनाट्य और हरकते जारी रहेगीं)

जनक- कुछ विचित्र सा स्वर सुनाई दिया -

अरुंधती - घोड़े की हिनहिनाहट है महाराज -

जनक - घोड़ा? घोड़ा यहाँ कहाँ - यह आश्रम है; आश्रम के आसपास वन है - वनों में जितने घोड़े थे उन्हें राजाओं ने पकड़वा लिया... घोड़े बिचारे निर्वासित हो गये नगर में जंगल से--- और मेरी बेटी सीता निर्वासित कर दिया एक राजा ने नगर से जंगल में - घोड़े यहाँ से यहाँ लुप्त हो चुके - वे नगर में मनुष्यों को ढोते हैं, मनुष्य के रथों को ढोते हैं --- मनुष्य के लिये युद्ध में मारे जाते हैं -

कौसल्या - कुछ सुनाई तो दिया था मुझे भी - पर कह नहीं सकती - वृद्वावस्था है - कानों में यों ही सनसनाहट के स्वर सुन पड़ जाते हैं -

जनक - *(हँस कर)* वह मौत की सनसनाहट है - वह आ रही है - वह हमारे पास है -

अरुंधती - कैसी बाते कर रहे हैं आप इतने बड़े ज्ञानी हो कर -

जनक - ज्ञानी हो कर ज्ञान की ही तो बात कर रहा हूँ -

कौसल्या - आप बच्चो को देखिये - मृत्यु का सारा बोध भूल जायेगें देखिये उनमें कैसा जीवन है कैसा उल्लास है - कैसा उनका हास है -

जनक - हास विलास उल्लास सब छूट गया। जीवन रीत गया। रामचन्द्र जैसा दामाद पा कर -- उस अन्याय ने मुझे तोड़ दिया - जो मेरी बेटी के साथ हुआ -

बालक-४- अच्छा लव भैया कहेगें तब तो मान लोगे?

बालक ३- कुश भैया कहेगें तो मान लूँगा -

बालक ४-- अच्छा! क्या कुश भैया अधिक बड़े ज्ञानी हैं?

बालक ३- हाँ, वे बड़े हैं--

बालक ४- तुम्हें कुछ पता भी है-- दोनों बराबर हैं -

कौसल्या- क्यों झगड़ रहे हैं ये बच्चे?

जनक - संसार में इतना कलह है पहले ही - अब यहाँ भी कलह होने लगेगा - और वह भी बालकों में - तो फिर क्या होगा इस धरती का -

अरुंधती - आप लोग क्यों खिन्न हो रहे हैं-- बच्चे हैं -- खेल खेल में कुछ वाद विवाद कर रहे हैं -

(लव का प्रवेश। कौसल्या, जनक और अरुंधती की नजरें एक साथ उस पर पड़ती हैं। तीनों उसे अचंभे से देखते हैं)

अरुंधती - आप लोगों ने उस बालक को देखा - कितना सुंदर हैं!

कौसल्या - अरे हाँ --- कौन है यह बालक? मुझे तो लगा जैसे मेरा बेटा राम बच्चा बन कर चला आया हो-

जनक - राम! अच्छा यहाँ भी राम आ गया! तो यहाँ से भी जाना पड़ेगा क्या? क्या पता वह हमीं को यहाँ से निर्वासित कर दे - *(व्यंग्य में हँसते हैं)।*

कौसल्या - राम के लिये आप की यह कटुता उचित नहीं है महाराज! - कुछ विवशता रही होगी मेरे बेटे की - बेटी सीता से उसे इतना लगाव था - पता नहीं यह सब कैसे क्या हो गया -

(फफक फफक कर रो पड़ती हैं। अरुँधती उन्हें धीरज बँधाने के लिये थाम लेती हैं।)

जनक - *(कौसल्या का रोना नहीं देख पाते है, अपनी ही रौ में)* अब उस राम का नाम भी मत लो महारानी कौसल्या - सीता को त्याग करने वाले उस राजा की स्मृति ही मत दिलाओ -

अरुंधती - महाराज, देखिये तो सही कितना सुंदर बालक है -

जनक - हाँ- यह भी कोई क्षत्रिय ही लग रहा है - पर है इसी इसी आश्रम का ब्रह्मचारी। पीठ पर तरकस लटके हुए हैं। एक हाथ में लिये हुए धनुष और दूसरे में रुद्राक्ष।

अरुंधती - नील कमल की चिकनी काया, धुंधराले लहराते केश -

कौसल्या - हम लोग उससे बात करें।

अरुंधती - उसे तो बच्चों ने ऐसा घेर लिया है कि छोड़ ही नहीं रहे-- हम महर्षि वाल्मीकि से चल कर पूछते हैं उसके विषय में

जनक - यही उचित होगा। आइये चलें।

(जनक, कौसल्या और अरुंधती का प्रस्थान, बच्चे लव को घेर लेते हैं)

बालक ३- लो ये रहे तुम्हारे लव भैया - पूछ लो इन से इन्हे मालूम है क्या?

लव- किसकी बात कर रहे हो तुम लोग - क्यों माधव, संजय--गोविंद--दामोदर-- बात क्या है?

बालक ४- लव भैया ये बताइये कि हाथी सब प्राणियों में सबसे बड़ा होता है कि नहीं -

लव - नहीं -

बालक -४ - क्या कह रहे हैं - पर हाथी से बड़ा कौन ?

लव - *(हँस कर)* हाथी से बडा है मनुष्य - क्यों कि वह हाथी को वश में कर सकता है -

बालक ४- न, न! आप बात को घुमा रहे हैं। आप तो यह बताइये कि डील डोल में हाथी से बडा क्या कोई प्राणी होता है -

लव- न भाई! आकार में तो हाथी से बडा कोई नहीं --

बालक ३ *(बालक ४ से)* ले! रह गया न!

बालक ५-- लव भैया आपको पता नहीं ??? अभी हम लोगों ने एक विचित्र प्राणी देखा - वह हाथी से बड़ा ही होगा -

बालक ३- - नहीं, नहीं! हाथी से बड़ा तो न होगा - हाँ पर बड़ा तो है - बहुत बड़ा --

लव - क्या देख लिया तुम लोगों ने -- कुछ बताओ तो सही --

बालक ३,४,५ - कैसे बतायें --बड़ा विचित्र प्राणी है-

(हड़बड़ाये हुए बालक १, २ का प्रवेश)

बालक १,२ - सचमुच बहुत विचित्र प्राणी है - कभी नहीं देखा ऐसा प्राणी -

लव - किसकी बात कर रहे हो तुम लोग? क्या विचित्रता है उसकी - कुछ बताओ तो हम बूझें ---

सब बच्चे एक साथ -

पूँछ उसकी बहुत लंबी है
हिलाता है जब वह अपनी पूँछ
तो हिल हिल जाती है धरती

बहुत लंबी है उसकी गरदन
गरदन पर हैं लंबे लंबे केश
खुर तो हैं उसके चार ही -
बस चार ही
पर जब चलता है
तो लगता है
खुरों से वह रौंद डालेगा है धरती को
खाता तो है बस घास ही
बल घास ही
पर - पर -

लव - पर क्या? -

बालक (मुँह छिपा कर हँसते हुए) - अब कैसे बतायें -

लव - ऐसी कौन सी बात है?

बच्चे -

घास घास खा खा कर
वह जो निकाल रहा है पीछे से -
आम के बराबर
लोदे के लोदें--

(सामूहिक हँसी

लव - *(हँसता हुआ)* मैं समझ गया! तुम लोगों ने-- देखा है घोड़ा!

बालक - घोड़ा? - क्या सचमुच? घोड़ा ही है वह - जो हमने देखा??

लव - हाँ मैं समझता हूँ वह घोड़ा ही होगा - पर घोड़ा - यहाँ -- हमारे आश्रम में कैसे आ सकता है?

बालक ३- घोड़ा तो हमने पहले तो कभी देखा ही नहीं --

बालक ४- हाँ पर घोड़ा होता तो है एक प्राणी -

लव - अरे कैसे भोले हो तुम लोग - घोड़े के विषय में नहीं जानते -

बालक ३- आप बताइये -

लव - देखो--

घोड़ा जोता जाता है रथ में -

रथ पर चलता है राजा
रथ पर हो कर सवार
राजा करता है संग्राम -
और अश्वमेध जब होता है
तब छोड़ा जाता है घोड़ा -
पर घोड़ा??
घोडा कैसे आ सकता है
हमारे इस आश्रम में?

बालक ४- आश्रम में भीतर नहीं आया है - उधर बाहर बाहर से निकल रहा है। उसके पीछे कुछ मनुष्य हैं -

(घोड़े की हिनहिनाहट)

बालक ५- अरे! वह आ रहा है इधर -

लव - चलो देखते हैं -

(सब मंच पर चक्कर लगाते हैं। घोड़े का प्रवेश)

बालक ३,४,५ - दूर रहना, दूर रहना.... बड़ा डरावना है -

लव - (पास जा कर) अरे यह तो अश्वमेध का घोड़ा है।

बालक १, २ - अश्वमेध का घोड़ा?

लव - हाँ! इसको किसी राजा ने छोड़ा है -

बालक ३,४, ५ - क्या हम इसे छू कर देख सकते हैं?

लव- हाँ, क्यों नहीं। घोड़ा किसी को कोई चोट नहीं पहुँचाता। वह मनुष्य का बड़ा सहायक होता है।

(बालक ,३,४,५ घोड़े के पास जाते हैं।)

बालक ३,४,५ - यह तो कुछ नहीं कर रहा । हम इसके साथ खेल सकते हैं।

लव- इसे किसी राजा ने अपनी शक्ति का प्रतीक बना कर हमें डराने के लिये भेजा। हम इससे नहीं डरेगें।

बालक १, २ - हम इसे अपने आश्रम में रख लेगें।

बालक- ३,४, ५ - हम इसे पालेगें। हम इसे घास खिलायेगें। और इसे

कभी नहीं सतायेगें।

(घोड़ा नाचता है, बच्चे उसके साथ नाचते हैं। सैनिक का प्रवेश)

सैनिक *(डपटते हुए)* क्या हो रहा है? यह रघुवंशकुलदीपक महाराज राम के अश्वमेध का धोड़ा है।

(बच्चे डर कर पीछे हटते हैं।)

सैनिक- किसने हाथ लगाया इसे? किसने इसे छुआ?

लव - इसे मैने पकड़ा है।

सैनिक - मूर्ख बालक! समझ भी रहे हो तुम क्या कह रहे हो?

बालक ३,४,५ - लव भैया! रहने दो। काहे को झगड़ा करना? हमें इस घोड़े से खेलना भी नहीं है।

लव - तुम लोग हाँक कर आश्रम के भीतर ले जाओ इस घोड़े को। इन सैनिकों के लिए मैं पर्याप्त हूँ।

(बच्चे घोड़े को हाँकते हुए ले जाने लगते हैं)

सैनिक - ए उद्दंड घमंडी बालक, तू समझ नहीं रहा है कि तू क्या कर रहा है--तू व्यर्थ के दर्प में अपना बुद्धि विवेक खो बैठा है -

लव - व्यर्थ के दर्प में अपना बुद्धि विवेक खो दिया है तुमने और उस राजा ने जिसने यह घोड़ा छोड़ा है। अन्यथा इस तरह हमारे आश्रम में तुम्हारा घोड़ा घुसा चला न आता।

सैनिक - तू समझता भी है कि तू कर क्या रहा है और हम तेरे साथ क्या करेगें?

लव - मै अच्छी तरह समझ रहा हूँ कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैं यह भी समझता हूँ कि तुम क्या करने वाले हो और मुझे क्या करना है।

(लव और सैनिक युद्ध करते हैं। सैनिक लव के बाण से घायल हो कर चीखता है। कुछ और सैनिक आते हैं। वे एख एक कर के लव के बाणों की बोछार से डर कर पीछे हटते हैं। बालकों का गायन)

डरते नहीं है हम

हम बालक हैं
जिसमें हो पछतावा
काम कभी भी ऐसा
नहीं किया करते हैं हम ।

लव - डरे नही हम। डर कर चले गये राजा के सैनिक ही। पर तुम लोग सावधान रहना। वे फिर आयेगें। और बड़ी सेना ले कर।
बच्चे - लव भैया-- हम लोग भी आप की तरह निडर बनेगें।
लव - अब बताओ मैं तुम लोगों के लिये और क्या करूँ-
बच्चे - आज हमें पढाई से छुट्टी मिली - और मिला खेलने के लिये यह घोड़ा - अब हमें और कुछ नहीं चाहिये-
लव -तो फिर इतना तो हो

(भरत वाक्य, समूह गायन में)

हम निर्भय हों धरती पर और गगन में
हम निर्भय हों जल में और स्थल में
हम निर्भय हों कि पीछे से कोई वार न होगा
हम निर्भय हों कि आगे से
हमले को कोई तैयार न होगा
हम निर्भय हो उससे
जो जाना पहचाना है
हम निर्भय हों उससे
जो सब का सब अनजाना है
हम निर्भय हों उससे
जो चला गया है आगे
हम निर्भय हों उससे
जो छूट गया है पीछे
दिन के साथ चलें हम निर्भय हो कर

हम रहें रात के साथ सदा फिर निर्भय हो कर
आगे पीछे ऊपर नीचे
दिशा दिशा को
हम सब मिल कर मित्र बनाएँ।

(आरंभ का मंत्र इसी गायन की पृष्ठभूमि में धीरे धीरे आता है। समाप्त)

---ooo---

नाट्यम् में प्रकाशित भास के नाटकों के अनुवाद

मध्यमव्यायोग : अंक ४
दूतघटोत्कच : अंक ५
प्रतिज्ञायौगन्धरायण : अंक ८
कर्णभार : अंक ११
पञ्चरात्र : अंक २२
अविमारक : अंक २२
स्वप्नवासवदत्तम् : अंक ४५

केश विन्यास और भारतीय कलाचेतना

सुषमा देवी गुप्ता

भारतीय जीवन प्रणाली में देह को संस्कारित करने और रमणीय बनाने की प्रवृत्ति सदा से रही है। आयुर्वेद तथा कामशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थों में काया की निर्मलता और उस पर विभिन्न लेप, चूर्ण आदि के प्रयोग तथा केशसज्जा के साथ साथ विविध अलंकरण नागर पुरुष तथा स्त्रियों के लिये निर्दिष्ट किये गये हैं। सहज रूप से सुन्दर काया को भी परिधान, विन्यास विशेष और अलंकरण के द्वारा और भी भव्य और आकर्षक बनाया जा सकता है तथा वही परिधान, विन्यास विशेष और अलंकरण के अभाव में अनाकर्षक भी हो सकती है।

अनुलेपन, गन्धवास तथा अलंकारों का प्रयोग करने के रूर्व दन्तधावन (दातून), केश काट कर उन्हें सुन्दर आकार और विन्यास देना, व्यायाम, मालिश तथा स्नान नागरकों की दैनिन्दिन क्रियाओं में परिगणित हैं। स्नान के पश्चात् लेप आदि के द्वारा शरीर का प्रसाधन इनके पश्चात् ही किया जाना चाहिये। सौन्दर्य को यहाँ स्वास्थ्य और मन की निर्मलता से जोड़ा गया है। स्नान के पश्चात् किया जाने वाला प्रसाधन दो चरणों में सम्पन्न होता था - पहले शरीर का अनुलेपन, चित्रण, वासयोग और तिलक लगाना तथा दूसरा - अलंकार या आभूषण धारण करना।

प्रसाधन या शृंगार में विविधता भारतीय कलाचेतना की अपनी विशेषता रही है। केशविन्यास को ही लें। संसार की किसी भी भाषा में कदाचित् केशों के इतने पर्याय नहीं मिलेगें जितने संस्कृत में। इसके साथ ही कवियों ने अपने नायक व नायिकाओं के सौन्दर्यवर्णनों में केश

की सज्जा के जितने पर्यायों का प्रयोग किया है, वे भी अन्य साहित्य में कदाचित् न मिलें। अमरकोश में **चिकुर, कुन्तल, बाल, कच, केश** और **शिरोरुह** तो पर्याय के रूप में परिगणित हैं। इनका गुँथा या बाँधा हुआ रूप **कलाप** या **कैशिक** अथवा **कैश्य** के नाम से परिभाषित किया गया है। सँवारे हुए बालों के लिये **अलक** और **चूर्णकुन्तल** ये दो नाम हैं। ललाट पर आये हुए बाल भ्रमरक हैं। **काकपक्ष** और **शिखंडक** किसी एक ओर लटकाये हुए सुसज्जित केश **कलाप** हैं। कबरी केशों के गूँथ कर बनाई गई विशेष प्रकार की वेणी है। **धम्मिल्ल** जूड़ा है, जिसमें रत्न गुँथे हों। कहीं कहीं मुक्तामाला भी इसमें गुँथी होने के उल्लेख मिलते हैं। **वेणी** और **प्रवेणी** भी गूँथ कर बनाये जानेवाली चोटी के विशिष्ट प्रकार हैं। **शीर्षण्य** और **शिरस्य** प्रशस्त केश हैं।

जहाँ शरीर का प्रसाधन करने में विभिन्न चूर्णों लेपों या द्रव्यों की उपयोग किया जाता था, वहीं शिर के बालों के प्रसाधन में भी विभिन्न पदार्थ काम में लाये जाते थे। स्नान के पश्चात् केशों को सुखाने का विधान था। कालिदास ने रघुवंश तथा मेघदूत में महिलाओं के द्वारा केशो को सुगंधित धूप से सुखाने का वर्णन किया है। स्त्री और पुरुष दोनों के लिये केशंस्कारधूप का प्रचलन था। स्नान के पश्चात् केश थोड़ी देर खोल कर सुखा दिये जाते थे, फिर उन्हें धूपवास के द्वारा सुवासित किया जाता था। धूपवास में सुगंधित धुआँ केशों में रम जाता था। फिर सायंकाल होने पर मल्लिका से फूलों से उन्हें सजाया जाता था। कालिदास ने लिखा है कि इस तरह सजे केशों से वसन्त बीत जाने के कारण निर्बल पड़ गया कामदेव फिर सबल हो जाता है।

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु।
कामो वसन्तात्ययममन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम्।

रघुवंश १६/५०

धूपवास के लिये अगरु जलाया जाता था, जिसे कालागुरु भी कहा जाता है। ऋतुसंहार में महाकवि ने कहा है - **अगुरुसुरभिधूपामोदितं केशपाशंम्** - *(ऋतु० ५/१२)* तथा-- **शिरांशि कालागुरुधूपातानि** *(वही, ४/५)।* इस धूपवास को कषायसुवास भी कहा

गया है। ऋतुसंहार में ही फिर कहा है - **शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः** *(वही १/४)*

सामान्यतः नागर स्त्री और पुरुष लम्बे केश रखते थे। सिन्धु सभ्यता के काल से ही सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिये केशों के विन्यास का प्रचलन था। बाल पीछे की ओर मोड़ कर वेणी के रूप में गूँथे जाते थे। बालों के बाँधने के लिये १६ इंच लम्बा, आधा इंच चौड़ा नारा उपयोग में लाया जाता था। कालिदास आदि महाकवियों ने इसे दाम कहा है। इस प्रकार के स्वर्णनिर्मित केशबन्धन उत्खनन में प्राप्त हुए हैं। केशों की सफाई तथा कटाई के लिये कंकतिका और कैंची का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता आया है। महिलाओं के सन्दर्भ में सीमन्त या माँग का वर्णन भी अनेकत्र मिलता है।

वैदिक काल से ही स्त्री और पुरुष दोनों की अभिरुचि केश प्रसाधन में परिलक्षित होती है।[1] साही के काँटे से केश सँवारने का उल्लेख काठक संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण आदि में मिलते हैं।[2] सीमन्तोन्नयन संस्कार में तो केशप्रसाधन एक अनुष्ठान के रूप में निर्दिष्ट है, जिसमें पति कंघी से पत्नी की माँग सँवारता है। स्त्री और पुरुष दोनों ही केश गूँथ कर चोटी बनाते थे - इस प्रकार के वर्णन वैदिक काल से हमें प्राप्त होते हैं।

भारत जैसे विशाल देश में केश विन्यास की विभिन्न शैलियों या पद्धतियों का प्रचलन होना स्वाभाविक है। समाज के विभिन्न वर्गों में भी अलग अलग रीति के केश विन्यास होता आया है, जो तत् तत् समाज की अपनी पहचान भी द्योतित करता है। नाट्य शास्त्र में देश के विभिन्न भूभागों में महिलाओं के केश विन्यास का वर्णन करते हुए कहा गया है - अवन्ति की स्त्रियों के केश में अलक यौर कुन्तल की विशेषता होती है। गौड देश की स्त्रियाँ अलक, शिखा, पाश और वेणियाँ बनाती हैं। आभीर समाज की स्त्रियाँ दो दो वेणियाँ गूँथती हैं। इनके केश शिखंडक कहे जाते हैं, जो क्रमशः ऊँचे रहते हैं। प्रोषितभर्तृका (जिन के पति विदेश गये हों) स्त्रियाँ एक ही वेणी गूँथा करती थीं तथा केशों को सँवारती नहीं थीं। कालिदास ने मेघदूत में विरहिणी यक्षिणी का वर्णन करते हुए

कहा है - ।

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम्।।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत् सारयन्ती
गण्डाभोगात् कठिनकठिनामेकवेणी करेण।।

(उत्तरमेघ, २९)

(विरह के पहले दिवस जो शिखा दाम को हटा कर मैंने बाँधी थी, और शाप का अवसान होने पर जो मेरे ही द्वारा खोली जाना है, स्पर्श करने में कठोर बड़ी कड़ी पड़ चुकी उस शिखा को वह अपने हाथ से न काटे गये नखों से कपोल पर से बार बार हटाती होगी।)

वप्ता (नाई) का केशप्रसाधन के लिये नियोजन किया जाता था। इसका उल्लेख वैदिक काल से ही प्राप्त होता है। सिगाल जातक तथा सूयमंग जातक ग्रन्थों में राजाओं के द्वारा राजकुल के राजकुमारों राजकुमारियों आदि के केशप्रसाध के लिये वप्ता को नियुक्त करने के वर्णन मिलते हैं। श्वेत केशों को काला करने के विधान भी प्राप्त होते हैं। अम्ब जातक और बृहत्संहिता में श्वेत हो चुके केशों को काला करने की विधि बताई गई है।[५]

केशविन्यास के प्रति बढती हुई अभिरुचि के संकेत प्राचीन प्रतिमाओं में केशविन्यास से भी प्राप्त होते हैं। स्त्रियाँ तो इसमें रुच रुच कर शृंगार करती हुई केश रचना को पर्याप्त समय देती ही होगीं। कालिदास ने हेमन्त में केश रचती स्त्रियों के विषय में कहा है -

निर्माल्यदाम परिमुक्त मनोज्ञगन्धं
मूर्ध्नोऽपनीय घननीलशिरोरुहान्ता।
पीनोन्नतस्तनभरानतगात्रयष्टयः
कुर्वन्ति केशरचनामपरास्तरुण्यः।

(ऋतु० ४/१६)

इसके साथ ही ऋतुओं के अनुकूल केशविन्यास में बदलाव भी किया जाता था। कालिदास ने ऋतुसंहार में वर्षा ऋतु में कामिनियों के नितम्बों तक लटकते केशों का वर्णन किया है।[६] प्रायः केशों का शृंगार

पुष्पों से ही अधिक होता था। नितम्बों तक झूलती सघनकेश राशि में फूलों की मालाएँ किस तरह सज जाती होगीं- यह कालिदास के वर्णनों से कल्पना की जा सकती है। ऋतुसंहार में ही कवि ने कहा है -

शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः

कृतावतंसैः कुसुमैः सुगन्धिभिः।। *(२/१८)*

इन पुष्पों में भी नवमालती विशेष रूप से केशों का हार बनती थी- वसन्त और शरद् आदि ऋतुओं में विभिन्न पुष्पों के साथ नवमालती का कालिदास उल्लेख करना नहीं भूलते-

केशान्नितान्तघननीलविकुञ्चिताग्रा-

नापूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः।।

(ऋतु० ३/१९)

नवमालती के साथ के में बालकुन्द का अनुवेध हो और फिर चूडापाश में नवकुरवक भी सजे फिर सीमन्त या माँग में कदंब गुँथे - इस छटा का देह के शेष अंगों में भी फूलों से ही शृंगार के साथ मनोहारी निदर्शन कालिदास ने किया है -

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं

नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।

चूडापाशे नवकुरवकं चारुकर्णे शिरीषं

सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।। (मेघदूत उत्तरमेघ २)

केश जितने काले हों उतने ही सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले माने जाते रहे हैं। सुन्दरियों के काली केश राशि के बीच माँग की चमकती रेखा जो सिंदूर से दमक रही हो और उजले ललाट पर लाल बिंदी- यह रंगों का संयोग भारतीय सौन्दर्य चेतना को बड़ा लुभाता रहा है।

केश जितने काले हों उतने ही सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले माने जाते रहे हैं। सुन्दरियों का माथे का फूलों से ग्रथित जूड़ा, उनकी काली केश राशि के बीच माँग की चमकती रेखा जो सिंदूर से दमक रही हो और उजले ललाट पर लाल बिंदी- और दमकती आभा वाले गौरे मुख को घेरे केशओं की कालिमा- रंगों का यह संयोग

भारतीय सौन्दर्य चेतना को बड़ा लुभाता रहा है। शंकराचार्य ने तो अपनी सौन्दर्य लहरी में माता जगदम्बा की स्तुति में उनके इसी रूप की भाव विभोर हो कर स्तुति की है -

धुनोतु ध्वान्तं नस्तुलितदलितेन्दीवरवनं
घनस्निग्धश्लक्ष्णं चिकुरनिकुरम्बं तव शिवे।
यदीयं सौन्दर्यं सहजमुपलब्धुं सुमनसां
वसन्त्यस्मिन् मन्ये बलमथनवाटीविटपिनाम्।।

वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर-
त्विषां वृन्दैर्वन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम्।।
तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी-
परीवाहस्रोतस्सरणिरिव सीमन्तसरणिः।

अरालैः स्वाभाव्यादलिकलभश्रीभिरलकैः
परीतं ते वक्त्रं परिहसति पङ्केरुहरुचिम्।
दरस्मेरे यस्मिन् दशनरुचिकिञ्जल्करुचिरे
सुगन्धौ माद्यन्ति स्मरदहनचक्षुर्मधुलिहः।।

गहरा अँधियारा छाया हम सबके भीतर
उसको दूर करे माँ तेरा वह काला
नील कमल के वन से होड़ लगाने वाला
घना सुकोमल चिकना जूड़ा अति सुंदर
सौरभ सहज यहाँ का पाने को ज्यों आ कर
नंदन वन के फूल बसा करते हैं जिस पर।

धार धार झरती सुंदरता देवि तुम्हारी
सिंदूरी यह माँग उसीकी है इक क्यारी
जिस पर सूरज अभी उगा सा किये बसेरा
घने केश का सघन तिमिर है वैरी, घेरा

डाले जिसको छेंक रहा वह, क्षेम हमारा
करे तुम्हारे सौन्दर्यलहर की धारा।।

भौंरे के बच्चों जैसी शोभा वाले
केश तुम्हारे घुँघराले स्वभाव से काले
उनसे घिरी तुम्हारी मुखछवि हँसी उड़ाती
पंकज की छवि की, जब उस पर छा जाती
हँसी तनिक सी। दशनच्छवि पराग बन जाती
शिवनयनों की भ्रमर पंक्ति उस पर बिछ जाती।

(अनु०- रा०)

केशों को कंकतिका से सँवार कर छोड़ देना ही पर्याप्त न था। नागरक या शौकीन लोग उन सँवरे केशों में विभिन्न प्रकार के अलंकरण लगा कर उनकी शोभा को द्विगुणित कर देते थे। सिन्धु सभ्यता के काल में सिर के केशों को मिट्‌टी, हाथीदाँत, चाँदी और तांबे के बनी तिकोनी आकृतियों से सजाने के प्रमाण मिलते हैं। सिंधु घाटी से इस तरह के तिकोने मिले हैं, जो २.४५ इंच ऊँचे और २ इंच व्यास वाले हैं। इनमें छेद रहते थे और छेदों से केशपाश लटकाये जाते थे। वैदिक काल में शिर के केशों के कसने के लिये कुरीर नामक अलंकार पहना जाता था। अथर्ववेद में इसके स्थान पर कुम्ब नामक अलंकार का उल्लेख मिलता है।[७]

बाद में क्षत्रियों, सामन्तों और राजाओं के मस्तक पर विभिन्न प्रकार के मुकुट धारण किये जाने के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। इन मुकुटों में मणियाँ, स्वर्ण और रत्न जड़े जाते थे। महाभारत में स्वर्ण और रत्नों से जटित मुकुटों का उल्लेख आया है। मुकुटों के शिखर पर जड़े मणियों का उल्लेख माघ ने अफने शिशुपालवध महाकाव्य में भी किया है।[८] गुप्तकाल में मुकुटों के ऊपर जटित अलंकारों के नाम चूडामणि, मुक्तागुण और किरीट मिलते हैं।[९] मुकुट के अतिरिक्त राजा मस्तक पर उष्णीष (पगड़ी) भी बाँधते थे। इसका उल्लेख भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है। उष्णीष पर किरीट और सबसे ऊपर शेखर धारण किया

जाता था।[१०] स्त्रियाँ ललाट के ऊपर सीमन्त या माँग की रेखा के आरम्भस्थल पर एक मणि धारण करती थीं। इसका नाम चूडामणि मिलता है। सीमन्तचुम्बी चूडामणि के वर्णन कादम्बरी आदि काव्यों में मिलते हैं।[११] महाकवि कालिदास ने रघुवंश में मुक्तागुणोन्नद्ध या सफेद मोतियों की माला से सजे मस्तक का वर्णन किया है जिसके ऊपर पद्मराग मणि बाँधी गई थी।[१२] कालिदास के ही मेघदूत के उल्लेख के अनुसार स्त्रियाँ वेणियों में स्वर्णमालाएँ भी गूँथती थीं। अलकों या घुँघराली लटों में मुक्ताजाल या सफेदमोती की लड़ी गूँथने क प्रचलन भी था।[१३]

भारतीय कलाचेतना केशों के शृंगार में विभिन्न नैसर्गिक उपादानों के प्रयोग में जितना रचनात्मक रूप लेती है, वह शायद ही अन्य अंगों के शृंगार में मिले। स्वर्ण, मुक्ता, रत्न और विभिन्न धातुओं के अलंकारों के स्थान पर पुष्पों और पंखों से केशों का शृंगार इसे अधिक लुभाता रहा है। मोरपँख की छटा के बिना कृष्ण के किशोर रूप की कल्पना ही नहीं हो सकती। यदि धनिक स्वर्ण की लड़ी से केशों को बाँधने में गर्व का अनुभव करते थे, तो ग्वाल बाल अपने केशों को लताओं से बाँध कर भी कम प्रफुल्लित न होते थे। कालिदास ने अपने नायक दिलीप के विषय में लिखा है -

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।

चुल्ल वग्ग में पुष्प अवतंसक से ज्ञात होता है कि सिर में फूलों को आभूषण के रूप में धारण करने तथा धातुओं के अलंकारों की भाँति फूलों के अलंकार पहनने में रसिक नागरकों और वनवालियों की समान रुचि रही है।[१६] कादम्बरीकार मालतीकुसुम नमें फूलों की माला गुथे होने का सुन्दर चित्र अंकित करते हैं।[१८]

ऋतुओं के बदलने के साथ पुष्पों से केशओं के शृंगार भी बदल जाते थे। ऋतुसंहार के अनुसार स्त्रियाँ वर्षा आने पर नई केसर, केतकी और कदम्ब के फूलों की मालाएँ गूँथ कर केशों को सजाती थीं।[१९] शिशिर में केशपाश की कुसुममाला तो शयन में रतिकेलि में ही विगलित होती थी -

केशसज्जा-अजन्ता गुफा-१

केशसज्जा-अजन्ता गुफा-१७

अगुरुसुरिभिधूपामोदितं केशपाशं
गलितकुसुमालं कुञ्चिताग्रं वहन्ती
त्यजति गुरुनितम्बा निम्ननाभिः सुमध्या
उषसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभा।।

(ऋतु०- ५/१२)

ऐसे में माला गूँथना कलाओं में परिगणित हो यह स्वाभाविक ही था। माला गूँथने की कला में स्त्रियों को ही प्रवीणता अपेक्षित हो ऐसा नहीं था। पुरुष भी इस कला में निपुण होते थे। वे अपनी प्रेमिकाओं के लिये मालती की कलियों या वकुल की कलियों से माला गूँथ कर स्वयं उनके जूड़े में उसे सजाकर प्रफुल्लित होते थे।[२०] कुमारसम्भव और ऋतुसंहार के वर्णनों से यह भी पता चलता है कि वसन्त में स्त्रियाँ चम्पक से मस्तक सजाती थीं, और उनके अलकों में अशोक और नवमल्लिका के फूल सुशोभित होते थे।[२१] शरद् ऋतु में नवमालती के कुसुम केशों के हार होते।[२४] पुरुष भी विभिन्न ऋतुओं के अनुसार विभिन्न पुष्पों से जूड़े सजाने में पीछे नहीं रहते थे। उनके केशपाश नवकुरवक के फूलों से गुथे होते थे।[२२] केशों और अलंकार से बनी विशिष्ट रचना अवतंस कही जाती थी।[२३]

हेमंत में तो रात्रि के समय भी सिर पर फूलों की माला पहने जाने का उल्लेख मिलता है। सोते समय ऐसी माला शैया और शयनकर्ता दोनों से सुगंध से सराबोर कर देती।[२५] शिशिर में केशों में कुसुम निवेश का निरूपण अन्य कवियों ने भी किया है।[२६] पुरुष प्रायः माथे पर फूलों की माला पहनते ही थे।[२७] राजशेखर ने अपनी कर्पूरमंजरी में ललाट के दोनों ओर लटकती कुटिल अलकों की माला का वर्णन करते हुए चिकुर भार में सजी कुसुम राशि का भी उल्लेख किया है।[२८] इससे केशसज्जा और उसमें कुसुमसज्जा दोनों का वैशिष्ट्य झलकता है। वसन्त में स्त्रियों के केशों में पुष्पसज्जा का नयनाभिराम चित्र कालिदास ने अंकित किया है -

कर्णे सुयोग्यं नवकर्णिकारं
चलेषु नीलेष्वलकेषष्वशोकम्।

पुष्पं च फुल्लं नवमालिकायाः
प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम्।।

(ऋतु० ६/६)

नाट्यशास्त्र, अमरकोश तथा कलाविषयक अन्य ग्रन्थों में मालाओं के अनेक प्रकार निरूपित हैं। इन मे सिर पर सजाई जाने वाली मालाओं का भी वर्णन हुआ है। तदनुसार केश के मध्य बाँधी जाने वाली माला अर्भक है, शिखा या चोटी के साथ नीचे तक लटकने वाली माला प्रभ्रष्टक है, सिर पर सामने की ओर पहनी गई माला ललामक है, कमर से हो कर नीचे तक लटकने वाला प्रालंब है, वक्षःस्थल पर तिरछी पड़ी माला वैकक्षिक है और शिखा में गूँथी गई माला आपीड है। आपीड का अन्य नाम शेखर भी मिलता है।

स्त्रियों के केश छोटे करने या काटने का प्रचलन नहीं था। लम्बे केशों से विविध प्रकार की सज्जा सम्भव थी। साहित्य के वर्णनों के साथ अजंता एलोरा आदि की प्राचीन मूर्तियों को देखने से लगता है कि केश सँवारने के जितने निराले और विविध कौशल भारतीय स्त्रियों ने विकसित किये थे, उतने अन्यत्र कहीं नहीं हो सकते हैं। यहाँ तक कि कलाशास्त्र में तो इस पर ध्यान दिया गया ही, और सौन्दर्य, नाट्य, तथा कला के अन्य विधाओं पर ग्रन्थ लिखने वाले आचार्यों ने केश सज्जा का विवेचन किया ही, धर्मशास्त्र के भी आचार्यों ने इसको अपने शास्त्र में स्थान दिया। स्मृति ग्रन्थों में कहा गया है कि जो स्त्रियाँ अपने पति की आयु बढाना चाती हैं, उन्हें नित्य अपने केश सँवारने चाहिये और जूड़ा निरलस हो कर अच्छी तरह बाँधना चाहिये।

निश्चय गी केशविन्यास का प्राचीन विमर्श आज भी पुरुष और स्त्री दोनों के लिये उपादेय और अभ्यसनीय है।

सन्दर्भ

१- अथर्ववेद ६/१३६,१३७; ८/२/१७; शतपथब्राह्मण ५/५/३/१; ५/१/२/१४

२– काठक संहिता २३/१; तैत्तिरीय ब्राह्मण १/५६६; शतपथब्राह्मण २/६/४/५
३– नाट्यशास्त्र २१/६५–७२
४– सिगालजातक १५२, सूगडंग १/४/२५
५– अम्बजातक ३४४, बृहत्संहिता ७७/१
६– ऋतुसंहार २/१८
७– अथर्ववेद ६/१३८/३
८– शिशुपालवध १
९– नाट्यशास्त्र २१/१६–२२
१०– कादम्बरी पृ० २२९, रघुवंश १/१०२
११– कादम्बरी पृ० १८८
१२– रघुवंश १७/२३
१३– मेघदूत – ६७
१४– भागवतमहापुराण १०/१४/४७
१५– महापुराण २८/१३
१६– चुल्लवग्ग ३/१३
१७– कादम्बरी, पृ० ६
१८– रघुवंश १७/२३, १६/५०
१९– ऋतुसंहार २/२१
२०– वही, २/२५
२१– कुमारसम्भव ३/६२, ऋतुसंहार ६/३, ६
२२– कुमारसम्भव ६/३३
२३– कुमारसम्भव २/२२
२४– कुमारसम्भव ३/१६
२५– ऋतुसंहार २/२१
२६– ऋतुसंहार ५/८
२७– शिशुपालवध ५/५७
२८– कर्पूमंजरी २/२०, २१

शाकुन्तल में परीक्षा – श्लोक की परिव्याप्ति

कुसुम भूरिया(दत्ता)

''काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला'' तथा ''कालि–दासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्'' जैसे अन्यान्य आभाणक संस्कृत साहित्य के रससिद्ध महाकवि कालिदास द्वारा रचित नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् की श्रेष्ठता को स्वतः ही अभिव्यक्त कर देते हैं।

अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा से हम सभी परिचित हैं । कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल के पञ्चमाङ्क में शाङ्र्गरव्र के मुख से एक श्लोक कहलवाया है– इत्थमात्मकृतम् अप्रतिहतं चापलं दहति।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् सङ्गतं रहः।

अज्ञातहृदयेष्वेनं वैरीभवति सौहृदम् !! (५/२४)

इस एक श्लोक के माध्यम से कवि ने अपने अद्वितीय नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् की मानो सम्पूर्ण कथा की त्रासदी को अभिव्यक्त कर दिया है । यह श्लोक नाटक में आद्यन्त अपना प्रभाव बनाए रखता है । नाटक के पूर्वार्ध में यह श्लोक अपना प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है।

कालिदास ने नाटक के प्रथम तीन अंकों में उस रूप को खूब उभारा है, जिसका आधार शारीरिक सौन्दर्य हैं और जिसका

परिणाम है –कामवासना की तृप्ति । एक और आश्रमकन्या, प्रकृति पुत्री, रूपवती शकुन्तला है, तो दूसरी ओर धनन्वैभव तथा राजसी ठाठ–बाठ से गर्वित चतुर, चालाक दुष्यन्त। रसिक भ्रमर दुष्यन्त रूपसम्पदा से लुभावनी कली शकुन्तला पर रीझकर मंडराने लगा और उसपर न्यौछावर हो गया । नवयौवना, मुग्धा शकुन्तला भी तपोवन की पवित्रता की परवाह न करती हुई दुष्यन्त से गान्धर्व विवाह कर लेती है । बाह्य रूप और वैभव के वशीभूत दोनों ने ही एक दूसरे के "हृदय" की थाह नहीं ली, उसपर विचार भी नहीं किया। उनकी यही भूल नाटक में इस प्रकार प्रतिफलित हुई कि शकुन्तला को दुष्यन्त के राजप्रासाद में महारानी तो क्या; दासी का भी स्थान नहीं प्राप्त हुआ तथा वह पितृगृह वापस लौटने में भी असहाय हो गई । दुष्यन्त भी वर्षो तक व्याकुल होता रहा। यह सब उस "अज्ञातहृदयत्व संगम" का ही दुष्परिणाम था। प्रथमाङ्क में "भ्रमर बाधा" की प्रतीकत्मक घटना के माध्यम से दुष्यन्त और शकुन्तला नाटक में सर्वप्रथम एक–दूसरे के समक्ष उपस्थित होते हैं और एक–दूसरे के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं । दुष्यन्त अपने मनोभावों को तब तक अभिव्यक्त नहीं कर सकता, जब तक कि उसे निश्चय न हो जाए कि शकुन्तला क्षत्रिय के द्वारा उद्वहनीय है और शकुन्तला भी ऋषिकन्या होने के कारण, गुरुपराधीनता के कारण अपने भावों को अपनी जिह्वा पर नहीं ला सकती । लज्जाभाव तथा तपोवन के पवित्र वातावरण और गुरुपराधीनता ने शकुन्तला को तथा ऋषि के कोप तथा शाप के भय ने दुष्यन्त को आगे बढ़ने से रोके रखा। चूंकि गुरु कण्व दीर्घकालीन यात्र पर गए है, अतः उनसे मिलने या उनकी आज्ञा प्राप्त कर लेने की भी

शीघ्र आशा नहीं थी, अतः "जंगली हाथी के विघ्न" की योजना करके कवि ने दोनों के अनुराग को विकसित होने के लिए पर्याप्त समय की योजना कर डाली ।

आश्रमवासियों की उक्त विघ्न से रक्षा करने के लिए दुष्यन्त को आश्रम में रुके रहने का स्वर्णावसर मिल गया, किन्तु पुनः द्वितीयांक में माता का आदेश उसे मिला कि उनके "पुत्रपिण्डपालन" नामक उपवास के समय दुष्यन्त को माता के समक्ष राजधनी में उपस्थित होना है । शकुन्तला के प्रति कामासक्त दुष्यन्त उतनी जल्दी अपनी राजधानी नहीं लौटना चाहता था, अतः माता के पुत्र सदृश विदूषक को ही माता के समक्ष पहुँचा देता और यहां ऋषियों का आशीर्वाद प्राप्त कर तपोवन में अतिथि बनकर शकुन्तला के रूप सौन्दर्य का भरपूर आनन्द लेता रहता है। "लताकुज्ज" दृश्य वाले तृतीयांक में कालिदास ने दोनो पात्रों के चरित्रों को उभारने अथवा उनका "चारित्रिक पतन" दिखाने में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है । एक ओर पतन दिखाकर दूसरी ओर "गान्धर्व विवाह" की बात कहकर उन्हें पतन से पूर्णतः बचा भी लिया है । यथेच्छ "रसपान" करके अपनी नामांकित अंगूठी शकुन्तला को देकर तथा शीघ्र ही उसे राजधानी बुलवा देने का आश्वासन देकर दुष्यन्त ने कण्वाश्रम से विदा ली।

चतुर्थाक में प्रवास से लौटे महर्षि कण्व को आकाशवाणी–द्वारा पुत्री शकुन्तला के दुष्यन्त के साथ गान्धर्व विवाह तथा गर्भ की सूचना दी जाती है। इसे सहर्ष स्वीकार करके महर्षि कण्व शकुन्तला को पतिगृह भेजने के लिए तथा गौतमी, शारद्वत तथा शाङ्‌र्गरव को शकुन्तला के साथ जाने का आदेश देते हैं ।

शकुन्तला का यह चतुर्थांक संस्कृत–साहित्य में अद्वितीय है । कालिदास के प्रकृति–प्रेम तथा शकुन्तला और कण्व के चारित्रिक विकास तथा रस की दृष्टि से अत्यन्त प्रशंसनीय इस अंक में यद्यपि नाटकीय क्रियाशीलता अधिक नहीं है, तथापि कन्या की विदाई के दुःख–सुख–मिश्रित वातावरण वाला यह अंक अनुपम है।

यहां तक तों सब कुछ ठीक चला। नाटकीय क्रियाशीलन तथा घटनाओं के घात–प्रतिघात से युक्त शकुन्तला का पंचमांक भी संस्कृत–नाट्य–साहित्य में अद्वितीय है। इसमें सम्पूर्ण कथानक ही एक नया मोड़ ले लेता है । गौतमी, शारद्वत तथा शाङ्र्गरव के साथ राजदरबार में अपने मन में सुनहरे सपने लिए पहुंची हुई शकुन्तला को, कण्वाश्रस में "कुल की प्रतिष्ठा" कहकर सम्मानित करने वाला दुष्यन्त, अपनी महारानी तो क्या बनाता; उसे पहचानने से भी अस्वीकार कर लांछित भी कर देता है। इसके पश्चात् ऋषियों तथा दुष्यन्त एवं दुष्यन्त और शकुन्तला के मध्य जो भयंकर आरोप–प्रत्यारोप प्रारंभ हुएं उससे शकुन्तला के प्राण ही संशय में पड़ गए। बहुत विचार करने पर भी जब दुष्यन्त को शकुन्तला का स्मरण नहीं होता, तब शाङ्र्गरव शकुन्तला को ही दोषी मानते हुए "अतः परीक्ष्य कर्तव्यम्" इत्यादि श्लोक के माध्यम से शकुन्तला को प्रतारित करता है। इतना अपमान झेलकर भी तपोवन में अपने पितृगृह वापिस जाने के लिए तपस्वियों के पीछे–पीछे चल पड़ने वाली शकुन्तला को शाङ्र्गरव कुलटा, कलंकिनी कहकर पतिगृह में दासी भी बनें रहने के लिए विवश कर देता है । अब शकुन्तला की आंखें खुलती है । वह अब कहां जाए? राजा ने तो उसे वेश्या, परभृता आदि शब्दों से लांछित करके उसका प्रत्याख्यान कर दिया । वह पृथ्वी से अपनी गोद में

समा लेने का अनुरोध करती है ''भगवति वसुन्धरे! देहि में विवरम्''; पर वसुन्धरा भी आज इस रत्न की पिटारी को स्थान देने को, क्षमा करने को उद्यत नहीं । इससे भी अधिक अपमान जनक है पुरोहित का वह प्रस्ताव; जिसके अनुसार उसे अपने प्रसव के द्वारा अपने चारित्रय की शुद्धता का प्रमाण देना होगा। चारो ओर से ठुकराई गई शकुन्तला कुब्द्ध होकर दुष्यन्त को अनार्य, धोखेबाज आदि कहती भी है , पर उससे उसे कोई लाभ नहीं हुआ । दोनों एक–दुसरे के शत्रु बन गए । यह सब बिना विचारे किए गए उस ''एकान्तसंसर्ग'' का ही परिणाम था। इस प्रकार यह एकान्तसंसर्ग वाला प्रसंग नाटक में जहाँ तक अपना प्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाता है ।

एकान्तसंसर्ग से फलीभूत हुए प्रत्याख्यान की व्यंजना नाटक में प्रारंभ से ही हुई है । कालिदास व्यंजना के कवि है। उन्होने नाटक का प्रारंभ बडे ही व्यंजनात्मक ढंग से किया है और प्रस्तावना में ही नाटकीय कथावस्तु को सूत्ररूप में कह डाला है। सूत्रधार के ''ग्रीष्मवर्णन'' शब्द से सम्पूर्ण नाटक में ''तपन'' की व्यंजना होती है । नटी के गीत में भ्रमरों द्वारा सुकुमार केसरयुक्त शिरीष पुष्प के चुम्बन से दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के उपभोग की व्यंजना होती है। सूत्रधार द्वारा स्वयं कही गई बात को भूल जाने और फिर पत्नी द्वारा स्मरण दिलाए जाने की बात से शकुन्तला की सम्पूर्ण कथा व्यंजित हो जाती है ऐसा लगता हैं मानो ''विस्मृति'' की बात ही इस सम्पूर्ण नाटक का केन्द्र बिन्दु है। प्रथमांक में ''भो राजन् ! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः'' की ध्वनि हम सुनते हैं और अगले ही क्षण मृगाक्षी शकुन्तला उसका शिकार बन जाती है । उधर महर्षि कण्व शकुन्तला के दुष्टग्रहों की शांति के लिए सोमतीर्थ गए हुए है और इधर दुष्टग्रह अपना प्रभाव दिखलाकर उसे दुष्यन्त के

चंगुल में फॅसा देते है और कर्तव्यच्युत कराकर शापित और अन्त में बहुत अपमानित भी करवा देते हैं । पंचमांक में रानी हंसपदिका का गायन भी शकुन्तला के प्रत्याख्यान की व्यंजना करता है । हंसपदिका के समान शकुन्तला को भी "सकृत् कृतप्रणय" समझने की व्यंजना बड़ी सरलता से हो जाती है । इस घटना से दुष्यन्त की चंचल मनोवृत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। नाटक के प्रथम तीन अंकों में दुष्यन्त विलासी और कामुक है। वासनालोलुप वह कण्वाश्रम में नवयुवतियों की अनर्गल हास–परिहास भरी बातें छिपकर सुनता है, उनके समक्ष प्रकट होने पर तथा स्वयं को एक राजसेवक (धर्माधिकारी) बतलाते हुए कहता है कि राजा के द्वारा यह अंगूठी उसे दान में दी गई है। शकुन्तला का साथ चाहता हुआ वह अपनी माता की आज्ञा का भी उल्लंघन करता है । शकुन्तला के सम्बन्ध में विदूषक से झूठ भी बोलता है और हसपदिका वाले प्रसंग से तो हम एक बार यह भी सोचने को बाध्य हो जाते हैं कि यदि दुर्वासा ऋषि ने शकुन्तला को शाप न दिया होता, तो सम्भवतः दुष्यन्त का चंचल स्वभाव ही शकुन्तला को भी हंसपदिका बनाकर छोड़ देता।

कालिदास ने शाकुन्तल में शकुन्तला की त्रुटि के लिए कण्वाश्रम को शोभा उस शकुन्तला को कभी क्षमा नहीं किया । बिना सोचे तपोवन विरोधी कार्य कर डालने पर तपोवन के प्रतीक तप और ब्रह्मचर्य ने शकुन्तला को इसके लिए दण्डित किया । वर्तमान कर्तव्य की उपेक्षा करना आश्रम में किसी प्रकार से सहन नहीं था।

षष्ठ और सप्तम अंकों में शकुन्तला और दुष्यन्त दोनों मे कष्टों की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है । प्रत्याख्यान से दुःखी शकुन्तला को सानुमती नामक अप्सरा उठाकर ले जाती है और हेमकूट पर्वत पर मारीच ऋषि के पवित्र आश्राम में रख देती है। यहां पर अपनी भूल का प्रायश्चित शकुन्तला त्याग और तपस्या से करती है । वीर पुत्र को जन्म देकर सिहशावको के बीच उसका पालनपोषण करती है और उस पवित्र वातावरण में "एक वेणीधरा" बनकर अपने पतिव्रतधर्म का पालन करती है ।

उधर दुष्यन्त अंगूठी को प्राप्त करते ही शकुन्तला की यादों, पश्चात्ताप तथा विरह में ऐसे खो जाता है कि उसे शरीर प्रसाधन तथा राजकार्य से भी विरक्ति सी हो जाती है । गर्भवती शकुन्तला का प्रत्याख्यान करके वह एक पल भी सुखी नहीं रह पाता । दोनों में से एक नियमक्षाममुखी है, तो दूसरा "प्रजागरकृशदुष्यन्त" को इस अवस्था से उबारने के लिए, देवासुरसंग्रम में अपनी सहायता के लिए इन्द्र दुष्यन्त को स्वर्ग में बुलाते हैं और दुष्यन्त की सहायता से अपने शत्रुओं को परास्त करते है। स्वर्ग से लौटते समय हेमकूट पर्वत पर मारीच ऋषि के आश्रम में बड़े कौशल से शकुन्तला और पुत्र सर्वदमन के साथ दुष्यन्त को पुनर्मिलन होता है। शकुन्तला का प्रत्याख्यान की अग्नि में कवि ने इतना तपाया है कि उनके प्रेम का वासनात्मक रूप पूरी तरह से जल जाता है और उनके प्रेम का विशुद्ध रूप चमक उठता है । अब यहां न किसी अभिज्ञान की आवश्यकता है और न ही किसी प्रकार के आश्वासन की । साथ ही मारीच ऋषि के तपःदूत आश्रम में इस दिव्य प्रेम की स्थापना करवाकर कवि बताना चाहता है कि यों तो प्रेम के नाम से पुकारा जाने वाला सांसारिक अनुराग सरलता से उपलब्ध हो सकता है पर

उसके शुद्ध अलौकिक रूप की प्राप्ति त्याग और तपस्या के बिना सम्भव नहीं । सरलता से मिलने वाली वस्तु सरलता से खो भी जाती है ।

यह सब उक्त श्लोक के परोक्ष प्रभाव को दर्शाता है । इस प्रकार हम देखते है कि शाङ्र्गर व के द्वारा कहा गया उक्त शाकुन्तल में तो आद्यन्त व्याप्त है ही; कन्यावर्ग को भी अपने एकान्त प्रणय एवं विश्वास के प्रति सदैव सावधान रहने का शाश्वत सन्देश भी देता है ।

ताल : एक संक्षिप्त विवेचन, वर्गीकरण, विशेषताएँ एवं महत्व

राकेश कुमार अहिरवार

भारतीय तालों का वर्गीकरण कई आधारों पर किया गया है और इसी के आधार पर तालों के कई प्रकार कहे गये हैं ।

प्रयोगगत आधार पर ताल का वर्गीकरण –

(१) मार्ग एवं देशी – अनुमान होता है बृहद्देशी में मार्ग एवं देशी संगीत का स्पष्ट विभाजन होने से भरतयुग के गांधर्व संगीत में प्रयुक्त होने वाले तालों को मार्ग ताल कहा गया, उनकी संख्या पाँच बतायी गई चञ्चत्पुट, चाचपुट, संपक्केष्टक, षट्पितापुत्रक और उद्घट्ट।

देशी संगीत में प्रयुक्त होने वाले तालों को देशीताल कहा गया एवं इसकी संख्या भिन्न–भिन्न आचार्यों ने भिन्न–भिन्न बताई। संगीत–रत्नाकर में इनकी संख्या १२० एवं कुछ अन्य ग्रंथों में १०८ कही गई।

(२) उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय ताल – वर्तमान में प्रचलित उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय ताल मध्ययुग की उपज है, उत्तर भारत एवं उत्तरभारतीय संगीत पद्धति में प्रयुक्त होने वाले तालों को उत्तरभारतीय ताल कहा गया । इनकी संख्या अनिश्चित बताई गई तथा प्रमुख तालों के ठेके निश्चित कर दिये गये।

दक्षिण भारत एवं दक्षिण भारतीय ताल पद्धति में प्रयुक्त होने वाले तालों को दक्षिण भारतीय या कर्नाटक ताल कहा गया, इसमें तालों की संख्या '**सात**' निश्चित कर दी गई और इसी आधार पर इसे '**सत्तसूलादि**' ताल पद्धति भी कहा गया। इन्हीं तालों के आगे चलकर जातिभेद के आधार पर ३५ तालों की रचना की गई और गतिभेद के आधार पर १७५ तालों की रचना या विस्तार किया गया।

(३) शास्त्रीय एवं सुगम संगीत के ताल – हालांकि इस प्रकार की स्पष्ट विभाजन रेखा खींचना संभव नहीं है क्योंकि कुछ तालों का प्रयोग शास्त्रीय संगीत में बहुलता से होता है, तो कुछ ताल ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग शास्त्रीय एवं सुगम दोनों में होता है परंतु फिर भी विभाजन की दृष्टि से शास्त्रीय श्रेणी में विलंबित तीनताल, एकताल, झपताल एवं तिलवाड़ा, आड़ा चारताल, झूमरा, धमार एवं चौताल आदि को रखते हैं। सुगम संगीत की श्रेणी में कहरवा, दादरा, रूपक, दीपचन्दी आते हैं जबकि कुछ ताल जैसे – रूपक, झपताल, प्लुत, तीनताल एवं एकताल आदि का प्रयोग शास्त्रीय एवं सुगम संगीत दोनों में किया जाता है।

ताल संरचना के आधार पर वर्गीकरण – (४) सम एवं विषम मात्रिक ताल – तालों का यह एक विभाजन और स्पष्ट रूप से देखा जा रहा है, जब से गुणिजनों ने विषम मात्राओं में गाना, बजाना या नाचना शुरू किया है तब से विषम मात्रिक तालों का प्रचलन बढ़ गया है और आज यह अपना विशेष स्थान ग्रहण कर रहा है इसका श्रेय बहुत हद तक संगीत का शिक्षण देने वाली उच्चस्तरीय शिक्षण संस्थाओं को जाता है। सम मात्रिक तालों में विशेषतौर पर तीनताल, झपताल, एकताल, चारताल, दादरा एवं

कहरवा आदि को ही रखते हैं जबकि विषम मात्रिक तालों में ६ मात्रा (बसंत) या नौ मात्रा वाले अन्य ताल, ११ मात्रा (रुद्र) या ११ मात्रा वाले अन्य ताल, १३ मात्रा (जय ताल) या १३ मात्रा चाले अन्य ताल, १५ मात्रा (पंचम सवारी) या १५ अपवाद स्वरूप (७ मात्रा) विषम मात्रिक ताल होते हुए भी इसमें गायन एवं वादन बहुलता से मिलता है।

(५) जाति के आधार पर ताल विभाजन – जातियाँ ५ प्रकार की बतायी गई हैं – १. चतुस्र, २. त्र्यस्र, ३. खण्ड, ४. मिश्र, ५. संकीर्ण। जाति के आधार पर भी भारतीय संगीत में तालों को स्पष्ट विभाजन देखने को मिलता है। यह परंपरा आधुनिक नहीं है वरन् भरतकाल में तालों का विभाजन जाति के आधार पर किया गया था और इन्होंने जातियाँ दो प्रकार की बताई थीं – चतुरश्र और त्र्यश्र तथा तालों में दो प्रकार बताये – (१) चतुरश्र (२) त्र्यश्र,। कालांतर में इनको चतुरस्र एवं त्र्यस्र जाति के ताल कहा गया।

चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्च तालो द्विविध एव हि।
द्विविधस्यापि तालस्य चैका जतिरिष्यते।।७।।

(ना.शा. बाबूलाल चौखम्भा ३१/७)

संगीत रत्नाकर में भी आचार्य शाङ्र्गदेव ताल के दो प्रकार बताते हैं –

"चतुरश्रस्तथा त्र्यश्र इति तालो द्विधा मतः।
चच्चत्पुटश्चाचपुट इति नाम्नी तयोः क्रमात्।।"

(सं. रत्ना. ५/१७–१८)

अर्थ – ताल के दो प्रकार है चतुरस्र और त्र्यस्र। इनके प्रतिनिधि ताल क्रमशः चञ्चत्पुट और चाचपुट है। दक्षिण भारतीय तथा कर्नाटक तालों का तो विकास ही जातियों के आधार पर हुआ

है दक्षिण भारतीय तालों में जातियों का सर्वाधिक महत्व है। यहाँ जाति के आधार पर मुख्य ७ तालों की रचना की गई परंतु, यहाँ जाति के निर्माण में लघु की भूमिका अति महत्वपूर्ण मानी गई। अर्थात् लघु के मान में परिवर्तन होने से जातियाँ परिवर्तित हो जाती हैं। दक्षिण भारतीय तालों में जातिगत महत्त्व को देखते हुए इससे प्रभावित एवं अनुप्रेरित होकर उत्तर–भारतीय ताल विद्वानों ने उत्तर–भारतीय संगीत में जातियों को समझने एवं समझाने का प्रयास किया। परंतु यहाँ की जातिगत अवधारणा इतनी वैज्ञानिक और स्पष्ट नहीं हो पाई कि जिसके आधार सैद्धांतिक रूप से सभी उत्तर भारतीय तालों को विभिन्न तालों को विभिन्न जातियों में वर्गीकृत किया जा सके। परंतु फिर भी यहाँ पर पाँच जातियों के आधार पर ही विभिन्न तालों का विभाजन किया गया तथा प्रमुख तालों को विभिन्न जातियों के आधार पर वर्गीकृत करने का प्रयास किया गया जैसे – तीनताल, तिलवाड़ा, कहरवा आदि तालों को चतुरस्त्र जाति में, एकताल, चौताल तथा दादरा आदि का त्र्यस्र जाति में झपताल आदि को खण्ड जाति में, रूपक, दीपचन्दी आदि को मिश्र जाति में एव धमार तथा कुछ विषम मात्रिक बसंत, रुद्र आदि को संकीर्ण जाति में स्थान दिया गया।

ध्यान से देखा जाय तो उत्तर भारत में दो विभिन्न संदर्भों में जातिगत धारणा देखने को मिलती है प्रथम बंदिशों के संदर्भ में जैसे कि यदि त्रिताल में त्र्यस्र या मिश्र जाति की किसी बंदिश या कायदे की रचना करना है तो त्रिताल (या दिये गये ताल) की प्रत्येक मात्रा में क्रमशः त्र्यस्र या मिश्र जाति के वजन एवं छन्द को ध्यान में रखते हुए ३–३ वर्णो, अक्षरों या मात्राओं अथवा ७–७ वर्णो, अक्षरों या मात्राओं का प्रयोग करना पड़ेगा। जैसे कि त्र्यस्र

जाति का अजराड़ा घराने का एक कायदा देखिये जिसमें त्रिताल की प्रत्येक मात्र में तीन-तीन वर्णों का प्रयोग किया गया है -

धागेना धात्रक धिकिट धागेना।	धात्रक धिनग तिग्ंती नाकीना।
X	2
तोकना तात्रक तिकिट ताकेना।	धात्रक धिनग दिंग्दी नागीना।
0	3

द्वितीय तालगत अर्थ में जाति का प्रयोग देखने को मिलता है कि अमुक ताल अमुक ज़ाति का है ताल की जाति निर्धारण के लिये कोई ठोस सिद्धांतो नहीं बना हैं परंतु मोटे अर्थ में यदि कोई ताल ४ से पूर्ण विभाजित हो जाता है परंतु ३, ५, ७, ६ से विभाजित नहीं होता है तो उसे चतुरस्र जाति का ताल माना जा सकता है। अपवाद स्वरूप चौताल एवं एकताल को छोड़कर यदि कोई ३ से पूर्ण विभाजित हो जाता है परंतु ४, ५, ७, ६ इत्यादि से विभाजित नहीं होता है तो उसे त्र्यस्र जाति का ताल माना जा सकता है। इसी प्रकार से यदि ५ से पूर्ण होता है, ४, ३, ७, ६ से विभाजित नहीं होता है तो खण्ड, ७ से विभाजित होता है ४, ३, ५, ६ से विभाजित नहीं होता है तो मिश्र एवं ६ से विभाजित होता है तथा ४, ३, ५, ७ से विभाजित नहीं होता है तथा शेष विषम मात्रिक (११, १३, १७) तालों को संकीर्ण जाति में रखा जाता है परंतु इस सिद्धांत में कई अपवादों का सामना करना पड़ सकता है तथा शेष विषम मात्रिक तालों को भी संकीर्ण जाति के अंतर्गत रखने को भी कोई सैद्धांतिक आधार नहीं है। अर्थात् उत्तर भारतीय समस्त तालों को जातिगत वर्गीकरण अथवा जातिगत व्याख्या संभव नहीं हे।

(६) प्रकृति के आधार पर तालों का विभाजन – कुछ विद्वान प्रकृति के आधार पर भी तालों का विभाजन करते हैं, जैसे चंचल अथवा शृंगारित प्रकृति के ताल एवं गम्भीर अथवा वीररस प्रकृति के ताल। चंचल एवं श्रृंगारिक तालों के अंतर्गत दादरा, कहरवा, रूपक, दीपचंदी, द्रुत–तीनताल तथा एकताल आदि आते हैं जबकि गंभीर एवं वीर रस प्रकृति के तालों में चौताल, धमार, सूलताल एवं तीव्रा आदि को रखा जाता है।

(७) ताल मिश्रण के आधार पर जातिगत विभाजन – भारतीय संगीत एक वैज्ञानिक विश्लेषण की लेखिका डॉ. स्वतंत्र शर्मा जी तालों की तीन अन्य जातियाँ भी मानती हैं जो कि ताल मिश्रण के आधार पर बनी प्रतीत होती है। आपके अनुसार तालों की तीन जातियाँ बनीं। (१) शुद्ध, (२) सालग, (३) संकीर्ण और इस आधार पर भी तालों (देशी) का विभाजन किया गया। (१) शुद्ध जाति के ताल वे होते थे जिनमें किसी अन्य ताल की छाया न हो। (२) सालग जाति के वे ताल होते थे जो दो विभिन्न तालों के मिश्रण से बने थे। (३) संकीर्ण जाति के वे ताल होते थे जो कई जातियों के मिश्रण से बने थे।[१]

ताल की विशेषताएँ –

१. ताल अखण्ड एवं निस्सीम काल का वह खण्ड होता है जिसका कि संगीतार्थ (गायन, वादन, नर्तन के लिये) प्रयोग किया जाता है।

---

(१) भारतीय संगीत एक वैज्ञानिक विश्लेषण – पृ.सं. ११४

२. वर्तमान ताल हमेशा चक्रीय या आवर्तित होता है।
३. प्रत्येक ताल का अपना एक निजी व्यक्तित्व या स्वरूप, छन्द एवं जाति तथा लय होती है, जिसमें वह विशेष रंजक या चित्ताकर्षक प्रतीत होता है।
४. ताल की मूलभूत इकाई मात्रा है।
५. ताल प्रदर्शित करने का एक मात्र साधन क्रियाएँ (सशब्द, निःशब्द या खाली एवं भरी) है जो या तो हाथ से की जाती है या वाद्यों के माध्यम से।
६. ताल में सम का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, ताल का प्रारंभ चाहे कहीं से भी हो पर समाप्ति अपेक्षाकृत सम पर ही होती है।
७. ताल, गायन, वादन तथा नृत्य को आधार प्रदान कर मात्र एवं काल परिसीमन करता है।
८. ताल में सौन्दर्य बोध कराने की स्वयमेव क्षमता होती है जो संगीत के किसी अंग गायन, वादन या नर्तन के सौन्दर्य बोध में गुणित रूप में वृद्धि करता है।

ताल का महत्व

संगीत में ताल का महत्व बताते हुए आचार्य भरत ना. शा. में लिखते हैं –

"सर्वस्येव हि नाट्यस्य आतोद्यानां तथैव च।
तालं कालेन संयुक्तं भवेन्नित्यं प्रमाणतः।।४८१।।"
"हीनं प्रकृष्टं वर्ण वा गानं तालेन धार्यते।
तस्मादेतत् प्रयत्नेन विज्ञातव्यं प्रयोक्तृभिः।।४८२।।"

(हि. ना.शा. बाबूलाल ३१/४८१–८२)

अर्थात् सभी प्रकार के नाट्य प्रयोग ताल पर आधारित होते हैं और यहीनियम नाट्य प्रयोग में होने वाले वाद्य वादन में भी रहता है, क्योंकि काल से युक्त ताल उचित प्रमाण (मापन) प्रदान करता है गीतों के वर्ण में होने वाली कमी या आधिक्य का प्रमाण भी ताल के द्वारा ही किया जाता है अतएव ताल नियमों का नाट्य प्रयोक्ताओं को प्रयत्न या ध्यान पूर्वक अध्ययन एवं प्रयोग करना चाहिये। आचार्य भरत ३१वें अध्याय में ही लिखते हैं –

"यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः।
अङ्गभूता हि तालस्य यतिपाणिलया स्मृताः।।४५८।।"

(हि. ना.शा. बाबूलाल चौखंभा ३१/४५८)

अर्थात् ताल का व्यवहारिक ज्ञान न रखने पर न अच्छा गायक बना जा सकता है और न अच्छा वादक बना जा सकता है, तात्पर्य यह है कि अच्छा संगीतज्ञ होने के लिये ताल तथा उसके विभिन्न अंग, यति, पाणि और लय का ज्ञान होना परम आवश्यक है।

'याज्ञवलक्यस्मृति' में ऋषि **'याज्ञवल्यक्य'** ने संगीत एवं ताल के महत्व को आध्यात्मिकता से जोड़ते हुए लिखा है –

"वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालाच्चाप्रयासेन मोक्षमार्ग नियच्छति।।११५।।"

(याज्ञवल्यक्य स्मृति श्लोक क्र. ११५, पृ. ४६५)

यहाँ आप न केवल ताल बल्कि संपूर्ण संगीत को मोक्ष प्राप्ति में सहायक मानते हैं अर्थात् वीणावादन के तत्त्व को जानने वाला या वीणावादन मर्मज्ञ, श्रुतियों एव जातियों का विशेषज्ञ तथा ताल को जानने वाला या **'तालज्ञ'** अल्प प्रयास से मोक्ष को प्राप्त

कर लेता है। आचार्य **'दत्तिल'** में भी ताल के सांगीतिक महत्त्व को स्पष्ट करे हुए लिखा है। **''तालात् साम्यं भवेत् साम्याद्धि तत् सिद्धिः''** (श्लोक–११०) अर्थात् ताल के द्वारा गायन, वादन एवं नर्तन में समता की स्थापना होती है। आचार्य दत्तिल यहाँ कहना चाहते हैं कि ताल से गायन, वादन और नर्तन में एक निश्चित लय कायम होती है जो संगीत को अनुरंजक बनाकर उसकी सार्थकता को सिद्ध करता है।

डॉ. शिव शेखर मिश्र **'मानसोल्लास एवं सांस्कृतिक अध्ययन'** नामक पुस्तक में ताल महत्त्व के संदर्भ में सोमेश्वर त यह श्लोक उल्लेखित करते हैं –

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रियं येन लभ्यते।
तेन ताल इति ख्यातः सोमेश्वरमहीभुजा।।

(मानसोल्लास एंक सांस्कृतिक अध्ययन पृ. ४२७)

अर्थात् ताल के बिना न तो गीत सुंदर जान पड़ता है न वाद्य और नही नृत्य सुंदर लगता है तथा न ही इनकी प्राप्ति हो सकती है अर्थात् ताल के आधार पर या ताल के द्वारा ही यह ख्याति या प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

हालांकि आचार्य सोमेश्वर का यह मत पूर्ण रूप से सार्थक है परंतु वर्तमान में ऐसा संगीत भी सुनने को मिलता है जो किसी ताल या निश्चित लय में बँधा नहीं होता है जैसे नोम–तोम का आलाप, सितार, वायलिन, सरोद आदि का गत बजाने से पूर्व किया गया आलाप, जोड़, झाला इत्यादि। परंतु यह भी उतना ही सत्य है कि संगीत अपनी पूर्ण सार्थकता को तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि इसका प्रस्तुतीकरण लयबद्ध एवं तालबद्ध रूप में न हो, शायद यही अभिप्राय आचार्य **'सोमेश्वर'** का है।

संगीत में ताल के महत्व को स्पष्ट करते हुए आचार्य पार्श्वदेव अष्टमाधिकरण में लिखते हैं –

''गीतं वाद्यं च नृत्तं च यतस्ताले विराजते।।''

(सं. समयसार ८/१)

अर्थात् गीत, वाद्य और नृत्य ताल में विराजित हैं, यहाँ ताल में विराजित होने का अभिप्राय गीत, वाद्य और नृत्य का ताल पर अवलंबित होने से है। इसी अधिकरण में ताल के महत्व को दार्शनिक दृष्टिकोण से रखते हुए आप श्लोक क्र. ६३ में लिखते हैं –

''तालं मूलानि गेयानि ताले सर्व प्रतिष्ठितम्।
तालहीनानि गेयानि मन्त्रहीना यथाहुतिः''।।६३।।

(सं. समयसार ८/६३)

अर्थात् – ''ताल गेयमूलक है ताल में सब कुछ प्रतिष्ठित है ताल हीन गेय मंत्रहीन आहुति जैसे है'' – यहाँ आचार्य पार्श्वदेव का ताल का गेयमूलक कहने का आशय उसकी सार्थकता से है अर्थात तालहीन गेय उसी प्रकार सार्थक नहीं होते जिस प्रकार मंत्रहीन, आहुति, मंत्रहीन आहुति से केवल अग्नि प्रज्वलित होती है, मनोवांछित फल प्राप्त होना संभव नहीं है।

संगीत में ताल की उपादेयता स्पष्ट करने के लिये इसी तारतम्य में हम निम्न बिन्दुओं पर दृष्टिपात कर सकते हैं –

१. ताल संगीत को एक निश्चित समय या नियम के बंधन में बाँधता है।
२. तालविहीन विशृंखल संगीत अपने मुख्य ध्येय को प्राप्त नहीं कर सकता।

३. ताल संगीत में विभिन्न सौन्दर्यपूर्ण चलन शैलियों लयों एवं लयकारियों के माध्यम से उसके सौन्दर्य में वृद्धि करता है एवं इसका विकास करता है।

४. ताल, संगीत में चमत्कारिता उत्पन्न करने की क्षमता रखता है।

५. ताल के कारण ही प्राचीन एवं वर्तमान संगीत की स्वरलिपि एवं बोल लिपि द्वारा मूलरूप में भविष्य के लिये सुरक्षित रखना संभव हो सका।

६. संगीत में तालों के माध्यम से भी गति–भेद एवं छंदों भेद उत्पन्न कर **'रस–निष्पत्ति'** को संभव बनाया जा सकता है।

अन्ततोगत्वा ताल के संबंध में परिभाषित विचार देने के उद्देश्य से संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि – **"संगीत के दौरान व्यतीत होने वाले समय को जब समान एवं निश्चित लय तथा विभिन्न क्रियाओं (सशब्द एवं निःशब्द) के माध्यम से नियंत्रित एवं प्रदर्शित किया जाता है तो सांगीतिक काल मापन का एक अमूर्त पैमाना प्रतिबिम्बित होता है जिसे ताल कहा जाता है।"**

अंत में सारांश के रूप में यह कहा जा सकता है कि भले ही तालोत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद हों या उन्होंने ताल को अपने–अपने ढंग से परिभाषित किया हो अथवा तालों के विभिन्न प्रकार गिनाये हों, परंतु संगीत में ताल के महत्व को न तो नकारा जा सकता है और न ही इसकी उपेक्षा की जा सकती है। वास्तव में 'ताल' संगीत रूपी इमारत का वह एक मात्र आधार होता है जिस पर इसके (संगीत के) तीनों आधार स्तंभ गायन, और नर्तन दृढ़ता अथवा स्थिरता को प्राप्त करते हैं।

भरतवाक्य : नाटक व आख्यान का अन्तःसम्बन्ध

ओम्प्रकाश राजपाली

"भरतवाक्य" नामक नाट्य–तत्त्व नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता है, न ही परवर्ती नाट्याचार्यों ने इसका उल्लेख किया है। वस्तुतः यह निर्वहण सन्धि का चौदहवाँ एवं अन्तिम अंग "प्रशस्ति" है। इसे ही नाटकों में "भरतवाक्यम्" यह नाम दिया गया है। संस्कृत के प्रथम नाटककार अश्वघोष ने शारिपुत्रप्रकरण के अन्त में बिना किसी पूर्व–भूमिका (किं ते भूयः प्रियमुपहरामि, अतः परमादि तथा तदिदमेवमस्तु आदि संवादों का प्रयोग किये बिना) के बुद्ध के मुख से शुभाशंसात्मक श्लोक प्रस्तुत करवाया है। किन्तु, उन्होंने इसे "भरतवाक्यम्" संज्ञा नहीं दी है। नाटककार भास ने अपने नौ रूपकों की "प्रशस्ति" नेपथ्य–स्थित भरतों (नटों) से प्रस्तुत करवाकर इसे "भरतवाक्यम्" नाम दिया था।[1] नाट्यशास्त्र में भरत ने "प्रशस्ति" को इस प्रकार परिभाषित किया है –

नृपदेशप्रशस्तिश्च प्रशस्तिरभिधीयते। (ना.शा./१९–१०१)

---

(१) विस्तृत जानकारी हेतु दृष्टव्य–"सूत्रधारवृत्त" नाट्यम्–अंक २३ में प्रकाशित मेरा लेख–"सूत्रधार भरत और भरतवाक्य" पृं १३६–१४१

संस्कृत नाटकों के भरतवाक्यों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि नाटककारों ने अपने भरतवाक्यों को उपर्युक्त परिभाषानुसार नृप एवं देश की प्रशस्ति एक मात्र सीमित नहीं किया है। अद्भुत एवं भिन्न विषय–वस्तु–सम्पन्न इन भरतवाक्यों में अधोलिखित विवरण मिलते हैं –

१. नाटककार के व्यक्तित्व की झलक, जीवन–दर्शन एवं जीवन के प्रति उनका असाधारण दृष्टिकोण।

२. नाटक के कथानक पर नाटककार की आदर्श टिप्पणी, नाटककार की आदर्श सोच एवं उच्चस्तरीय चिन्तन की जानकारियाँ।

३. प्रजा के कल्याणार्थ राजाओं को समुचित दिशा–निर्देश। इन्द्रदेव से सदैव भरपूर वर्षा करने की अभिलाषा।

४. गायों एवं ब्राह्मणों के हित की कामनायें, यज्ञों के प्रति आस्था, गायें बहुत दूध देने वाली हों, वृष्टि समय पर हो, सुखदा वायु चले, पृथ्वी सब प्रकार से धान्य–सम्पन्न हो ऐसी अपेक्षायें।

५. नाटककार के आश्रयदाता नृप एवं देश का प्रशस्ति–गान, नाटककार उपास्य–देव का नामोल्लेख तथा उनसे मोक्ष–प्राप्ति की कामना।

६. सरस्वती के कभी विनष्ट नहीं होने की शुभाशंसा और परस्पर विरोधी स्वभाव की श्री और सरस्वती के एकत्र रहने की प्रार्थना।

७. सम्पूर्ण लोक की एकता, अखण्डता और प्रजा के सुख एवं कल्याण की कामनायें; और

८. भारतीय संस्कृति की भावना–सर्वे सुखिनः सन्तु से ओत–प्रोत विभिन्न कामनायें।

संस्कृत नाटकों के भरतवाक्यों के (विषय–वस्तु की दृष्टि से) ऐसे अद्‌भुत वैशिष्ट्‌य को देखकर सागरनन्दी (११ वीं शताब्दी) ने "प्रशस्ति" को भरत से हटकर कुछ इस प्रकार से परिभाषित किया है –

नृपद्विजगवादीनां शिवावधारणपूर्व काव्यस्यावधारणं प्रशस्तिः।

(ना.ल.र. पृ. ६०)

संस्कृत नाटकों के भरतवाक्यों में मानव–जीवन के बुनियादी तथ्यों को सुस्थापित किया गया है। मूल बात है – ज्ञान। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यवस्थित ज्ञान के बिना आशातीत सफलता मिल ही नहीं सकती। लोक में सर्वत्र सुख–शान्ति और कल्याण के लिये शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है। हमारा भारत प्राचीन काल से ही कृषि–प्रधान देश रहा है। प्रजा सुखसम्पदासम्पन्न हो इसके लिये सदैव समय पर अच्छी वर्षा की प्रार्थना इन्द्रदेवता से भरतवाक्यों में की गई है। शिक्षा एवं ज्ञान के वितरण हेतु एवं धार्मिक कार्यों की दृष्टि से ब्राह्मणों को श्रद्धाभाव देते हुये उनके कल्याण की कामनायें भी की गई हैं। उस समय गायों के दूध की प्रचुर मात्रा में यज्ञादि में प्रयुक्त होने वाले दही–घृतादि के लिये, उपयोगिता और आवश्यकता रहती थी तभी तो भरतवाक्यों में इसे प्रमुखता से स्थान देते हुये कहा गया है "गोब्राह्मणानां हितमस्तु नित्यम् ....।" संस्कृत नाटकों के ये भरतवाक्य तत्कालीन समाज एवं देश की झांकी प्रस्तुत करते हैं। हमारे जागरूक नाटककार समाज और देश को लेकर कैसी

उदात्त अपेक्षायें रखते थे और कैसे आदर्श स्वप्न संजोते थे – इसकी सुन्दर झलक ये भरतवाक्य दिखाते हैं। प्रतिभाशाली नाटककार अपनी रचना के विषय में कोई वक्तव्य देना चाहे तो इसके लिये प्रथम अवसर उसे प्रस्तावना में मिलता है तो द्वितीय अवसर नाटक की समाप्ति के समय भरतवाक्य में। इसका बहुत अच्छा उदाहरण उत्तररामचरितम् का भरतवाक्य है। जिसमें भवभूति जी ने अपने विद्वान् प्रेक्षकों से कहा है –

पापेभ्यश्च पुनाति वर्धयति च श्रेयांसि सेयं कथा
मङ्गल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गङ्गेव च।
तामेतां परिभावयन्त्वभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणीमिमाम्।।

संस्कृत रंग परम्परा की बहुमूल्य विरासत सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में यत्र–तत्र बिखरी हुई है। हितोपदेश की अन्तिम कथा–संविधान की दृष्टि से दर्शनीय है जहाँ काव्यसंहार और भरतवाक्य दोनों उपस्थित हैं। इस अंश को पढ़कर लगता है कि कथाकार क्लासिकी रंग चेतना–सम्पन्न होकर कथा साहित्य की रचना करते थे। हितोपदेश के इस अंश को पढ़ते समय ऐसी प्रतीति होती है कि हम किसी रंगशाला में किसी नाटक का समापन देख रहे हैं। प्रस्तुत है हितादेश का वह अंश – विष्णुशर्मणोक्तम् – 'अपरं किं कथयामि ? कथ्यताम्।'

राजपुत्रा ऊचुः – 'तव प्रसादाद्राज्यव्यवहारं ज्ञातम्। ततः सुखिनो भूता वयम्।'

विष्णुशर्मोवाच – 'यद्यप्येवं तथाप्यपरमपीदमस्तु –

सन्धिः सर्वमहीभुजां विजयिनामस्तु प्रमोदः सदा
सन्तः सन्तु निरापदः सु तिनां कीर्तिश्चिरं वर्धताम्।

नीतिर्वारविलासिनीव सततं वक्षःस्थले संस्थिता
वक्त्रं चुम्बतु मन्त्रिणामहरहर्भूयान्महानुत्सवः।।

अन्यच्चास्तु –

प्रालेयाद्रेः सुतायाः प्रणयनिवसतिश्चन्द्रमौलिः स यावद् ,
यावल्ललक्ष्मीर्मुरारेजर्लद इव तडिन्मानसे विस्फुरन्ती।
यावत् स्वर्णाचलोऽयं दवदहनसमो यस्य सूर्यः स्फुलिङ्ग–
स्तावन्नारायणेन प्रचरतु रचितः सङ्ग्रहोऽयं कथानाम्।।

अपरं च –

श्रीमान् धवलचन्द्रोऽसौ जीयात् माण्डलिको रिपून्।
येनायं सङ्ग्रहो यत्नाल्लेखयित्वा प्रचारितः।।

उपर्युक्त तीनों श्लोकों में निहित कामनायें एवं विवरण :–

१. विजयी सभी नृपों की मैत्री सदा प्रसन्न करने वाली हो।
२. सज्जन निरापद हों।
३. सत्कर्म–कत्ताओं की कीर्ति दीर्घ काल तक बढ़े।
४. नीति (राजनीति) वेश्या के समान निरंतर मंत्रियों के मुख एवं हृदय में निवास करे।
५. दिन–प्रतिदिन महान् उत्सव (आनन्द) हो।
६. जब तक शिवजी पार्वती के साथ स्नेहपूर्वक रहते हैं तब तक मेघ में बिजली के समान विष्णुजी के हृदय में लक्ष्मी रहे।
७. जब तक दावानल के समान मेरुपर्वत स्थित है, जिसकी चिंगारी के समान सूर्य है, तब तक नारायण का बनाया हुआ यह कथाओं का संग्रह प्रचलित हो।

८. यह चक्रवर्ती श्रीमान् राजा धवलचन्द्र शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें, जिन्होंने यह संग्रह यत्नपूर्वक लिखवाकर प्रचारित किया।

सम्पूर्ण नाटक के विकसित होने के पूर्व सूत्रधार के द्वारा कथा–गायन के रूप में आख्यान–उपाख्यानों की नाटकीय प्रस्तुति की जो परम्परा प्रचलित थी वह (नाटक के विकास के बाद) आगे भी चलती रही।[१] भोज कहते हैं –

नलसावित्रीषोडशराजोपाख्यानवत् प्रबन्धान्तः।
अन्यप्रबोधनार्थं यदुपाख्याति तदुपाख्यानम्।।
आख्यानसत्तां तल्लभते यद्यभिनयन् पठन् गायन्।
ग्रन्थिकः एकः कथयति गोविन्दवदवहिते सदसि।।

(शृं. प्र. पृ. ६१६)

पंचतंत्र एवं हितोपदेश (कथा–साहित्य) की कहानियों में पशुपात्रों के छोटे–छोटे संवादों (कथापकथनों) को पढ़ते समय हमें नाट्यानुभूति–सी होती है। कई बार ऐसे क्षण भी समुपस्थित होते हैं जब हम इनसे नाटक देखने जैसे रंजित और आनन्दित हो जाते हैं। वस्तुतः जहाँ–जहाँ पशु वहाँ–वहाँ पात्रों के छोटे–छोटे संवाद पर ये कहानियाँ नाटकीय हैं, इनमें मनुष्य जगत् के व्यवहार के ज्ञान के लिये पशु–प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। पंचतंत्र में अनेक कथायें ऐसी भी हैं जो नाटक के समान मानव–समाज को ही प्रस्तुत कर देती हैं। हितोपदेश में प्रयुक्त भरतवाक्यों जैसे ये शुभाशंसात्मक श्लोक, कथा से नाटक और नाटक से कथा के अन्तः सम्बन्ध को ही रेखांकित करते हैं।

---

(१) भारतीय नाट्य : स्वरूप और परम्परा, डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, पृ. ६८ ।

प्राचीन भारतीय केश–विन्यास परम्परा में खोह का मूर्ति–शिल्प

श्रीमती सुधा सोनी

भारतीय संस्कृति में कला का विशिष्ट स्थान है। कला जीवन–बोध का एक सशक्त माध्यम है और मानव मन के सौंदर्य–बोध का साक्षात् स्वरूप भी। ललित कलाओं की पाँच विधाओं में मूर्ति–कला का अपना महत्त्व है।

भारतीय मूर्ति–कला का प्रादुर्भाव प्रागैतिहासिक कला में सिन्धु घाटी की सभ्यता के काल से ही हो गया था । यह कला विकास के सोपानों को तय करली हुई गुप्त काल में अपने चरमोत्कर्ष में पहुँच गयी थी। गुप्त काल में बुन्देलखण्ड के पुरास्थलों में खोह का विशिष्ट स्थान है। खोह के उत्खनन से प्राप्त मूर्तियों का केश –विन्यास अत्यन्त आकर्षण और जिज्ञासा का विषय है।

खोह बुन्देलखण्ड व बघेलखण्ड अंचलों की सीमा पर स्थित है। सतना जिले के ऊँचेहरा के दक्षिण की ओर लगभग १५ कि.मी. दूरी पर है–भूमरा, जहाँसे ८ कि.मी. दूरी पर खोह है। ईसा की आरभिक शताब्दियों में नचना और खोह दो बड़े कस्बे रहे होगे । इन दोनों कस्बों की स्थापना भी एक साथ हुई होगी। जहाँ तैलीय वंश का राज्य था। तैलीय वंश से मतलब तैलप से होगा,

जैसा कि "गांगू और तेली" (गांगेय देव और तैलप) वाली कहावत में तैलप का तेली हो गया।[1] इन दोनों के मध्य एक पर्वत–माला थी जो इन दोनों को एक दूसरे से जोड़ती भी थी, और अलग भी करती थी। इसी पर्वत–माला के शिखर में भूमरा का ऐतिहासिक शिव–मन्दिर था।

इस क्षेत्र में मूर्ति–शिल्प के लिए बुलआ पत्थर का अपार भंडार है। ये पत्थर हल्के गुलाबी रंग के हैं। इन्हीं गुलाबी पत्थरों को शिल्पकारों ने अपनी छैनी से तराश कर अपनी कला और प्रतिभा को जीवंत बना दिया। सन् १६८८ ई. में उत्खननन से प्राप्त मूर्तियों के शीर्ष पर समकालीन केश–विन्यास के विभिन्न आकर्षक ओर मनमोहक प्रकार परलक्षित हुए हैं। केश–विन्यास की परम्परा अति प्राचीन है। प्रागेतिहासिक काल में भी पुरुष एवं स्त्रियाँ अपने केशों को सँवारते थें। इसके प्रमाण हमें सिन्धु घाटी की मूर्तियों में उपलब्ध होते हैं । सिन्धु घाटी क़ी मूर्तियों में, चाहे दाढ़ी वाले पुरुष की हो या वेणी गुथी नारियों की, स्पष्ट रूप से केश–विन्यास की परम्परा को देखा जा सकता है। केश–विन्यास की यही परम्परा समय के साथ आगे बढ़ती है। वैदिक साहित्य में भी केश–विन्यास का उल्लेख यत्र–तत्र प्राप्त होता है।

इस काल में केश–विन्यास की कला और भी विकसित हुई। स्त्रियाँ लम्बे केशों को गूंथकर चौड़ी वेणियाँ बनाती थीं । पुरुषों में भी केश सँवारने की परम्परा थी । इस काल में आधे बालों को खुला छोड़ने और आधे बालों को जूड़ा बनाने की परम्परा का भी संकेत मिलता है।[2] मौर्यकालीन केश–विन्यास में ईरानी प्रभाव दिखाई पड़ता है । मौर्यकालीन मृण्मूर्तियों में स्त्रियाँ दो वेणियाँ भी धारण

करती थी । इस तरह की मूर्तियाँ वैशाली, पेशावर, अयोध्या और सारनाथ में पाई गई हैं। वैदिक काल में तेल का प्रयोग भी किया जाता था। मौर्यकालीन मूर्तियों में से एक में चन्द्रगुप्त को केश धोते हुए दिखाया गया है, जिससे विदित हेता है कि स्त्रियों के साथ पुरुषों में भी केश–विन्यास के प्रति अभिरुचि रही होगी। इस काल में केशों को पुष्पों से सुसज्जित करने की परम्परा भी थी । कुषाणों के काल की पुरुष –प्रतिमाओं में लम्बी दाढ़ी व खड़े बाल तथा नारी–प्रतिमाओं में खुले बाल देखे जाते हैं। गुप्त काल में केश–विन्यास कला का सर्वाधिक विकास हुआ। कहा जाता है कि गुप्तकाल में उतनी केश–कलाएँ थीं, जितने कि केश। महाकवि कालिदास, दण्डी, बाणभट्ट आदि के ग्रंथ केश–विन्यास पर विशेष प्रकाश डालते हैं। गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में स्त्रियाँ लम्बे केश रखती थीं तथा हाथी दाँत अथवा अन्य प्रकार की कंघियों से केशों को दो भागों में विभाजित करती तथा चोटियाँ गूंथती थीं । केशें को नवमल्लिका पुष्पों अथवा मोतियों से भी अलंकृत किया जाता था।[3]

बालों को ढंकने के लिए कभी–कभी स्त्रियाँ सिर पर मोतियों का जाल भी पहनती थीं। केश–विन्यास कलात्मक एवं सादा दोनों ही प्रकार से किया जाता था। भुवनेश्वर मदिर की प्रतिमाओं में केश अत्यन्त सादगी से संवारे गये हैं। स्त्रियाँ जूड़ा भी बांधा करती थीं तथा स्वर्ण अथवा चाँदी से निर्मित चक्रिकाओं से उन्हें अलंकृत भी करती थीं। कई स्त्री–प्रतिमाओं में मोतियों की लड़ियों से भी केशों को सुसज्जित दिखाया गया है। गुप्तकालीन मूर्तियों में बालों को लच्छेदार भी दर्शाया गया है। देवगढ़ के मंदिर में स्त्री–प्रतिमाओं से गर्दन पर जूड़ा बनाने का

प्रचलन भी था, जिससे ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ गर्दन पर जूड़ा बांधती थीं अथवा बालों को ढीले–ढाले लम्बे लच्छों के रुप में खुला छोड़कर लटका देती थीं । गुप्तकाल की जूड़ा बनाने की यही परम्परा १०वीं–११वीं सदी तक चलती रही। केश–विन्यास की यह कला गोर्गी (रीवा), भूवनेश्वर, बंगाल, राजस्थान एवं खजुराहों की मूर्तियों में दिखाई पड़ती है। सामान्यतः साधारण स्त्रियों, नर्तकियों एव गणिकाओं के केश–विन्यास में भिन्नता रहती हैं। गुप्तकालीन गणिकाओं और नर्तकियों के केश–विन्यास आम स्त्रियों से भिन्न थे। गणिकाएँ एवं नर्तकियों दोनों सिर के दानों छोर पर दो जूड़े बनाती थीं, पर कहीं–कहीं तीन जूड़ों के प्रमाण भी मिलते हैं जो मध्य में बनाये जाते थे।

प्राचीन भारत में केश –विन्यास की ४ शैलियाँ प्रमूखतः प्रचलित रही हैं–

(१) प्रथम– इस शैली के अन्तर्गत बालों को पीछे की ओर लटकाकर सँवारा जाता था। पहले बालों को दो भागों में विभाजित किया जाता था अथवा बिना विभाजन के ही समेटकर एक लम्बी लट बना दी जाती थी अथवा उसी पर चक्करदार जूड़ा बना दिया जाता था। जूड़े में सौन्दर्य–वृद्धि के लिये बोरेला लगाया जाता था।

इस प्रकार के जूड़ों का प्रदर्शन कलाकारों ने कला के माध्यम से किया है, जो बाद में युगों की धरोहर बन गये हैं। खजुराहो की मूर्तियों में इसी प्रकार केश–कला पाई जाती है। गोल जूड़ों के अतिरिक्त लम्बोतरा, नोकदार एवं गर्दन पर लटका हुआ जूड़ा बनाने की परम्परा रही है। खोह से प्राप्त मुखाकृतियों में भी यही परम्परा दिखाई देती है।

(२) द्वितीय– इस शैली के अन्तर्गत बालों को ऊपर की ओर सँवार कर लम्बे लट्ठे के रुप में लपेट कर सिर के ऊपर गोलाकार अथवा अर्धगोलाकार बनाया जाता था। इसे स्थिर रखने के लिये बीच में कोई आभूषण भी लगाया जाता था। खजुराहो की मूर्तियों में केश–विन्यास इसी शैली के हैं। यही शैली गुप्तकाल में मध्यभारत के अन्य स्थानों में भी प्रचलित थी ।

(३) तृतीय–इस शैली में सिर के ऊपर त्रिकोणााकार (पिरामिड) जैसे जूड़े भी स्त्रियाँ डालती थीं। इसके कुछ उदाहरण चन्देल तथा परमार मूर्तियों के केश–विन्यास में मिलते हैं।

(४) चतुर्थ– इस शैली में बालों को अत्यन्त सादगी से सँवारा जाता था। भोजपुर से प्राप्त चंवर धारिणी के केश अत्यन्त सादे हैं। सम्पूर्ण उत्तरी भारत की संन्यासिनी स्त्रियाँ भी सादे जूड़े बनाती थीं ।

इस प्रकार साहित्य तथा मूर्तिकला के सर्वेक्षण से स्त्रियों के केश–विन्यास के विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश पड़ता है। स्त्रियों के केश–विन्यास के तीन प्रकार रहे–

(१) वेणी गूँथकर,

(२) ग्रन्थि अथवा जूड़ा बाँध कर,तथा

(३) बालों को खुला छोड़कर।

इस प्रकार धार्मिक विचार कर्मकाण्डीय विधि के अनुसार केश–विन्यास देव–प्रतिमाओं, गणिकाओं, स्त्रियों एवं पुरुषों सभी में पाया जाता है। खोह से प्राप्त गुप्तकालीन मुखाकृतियों की केश–सज्जा अत्यन्त आकर्षक एव सजीवता लिये हुए है जो इनके चेहरे के भावों को प्रदर्शित करती है। पाटी पर एक–एक बाल को बड़ी सूक्ष्मता से दर्शाया गया है । मई १९८८ ई. में पुरातत्व

विभाग, रामवन के द्वारा कराये गये उत्खनन कार्य से बड़ी मात्रा में गुप्तकालीन अवशेष प्राप्त हुए हैं। उन्हीं के सौजन्य से गुप्तकालीन मुखाकृतियों की कुछ तस्वीरे प्राप्त हुई हैं, जिनमें केश–विन्यास की कला का विवरण इस प्रकार है–

प्राप्त हुई मुखाकृतियों की इन तस्वीरों से गुप्तकाल में केश संवारने की बहुआयामी शैली स्पष्ट परिलक्षित होती है। इन मुखाकृतियों के चेहरों की बनावट व उनके भावों में पर्याप्त समानता है, लेकिन केश–विन्यास में पर्याप्त असमानता दिखाई देती है। सभी में एक समानता अवश्य दिखाई देती है–वह हे तैल लगाकर बालों को चिपकाने की।

इन मुखाकृतियों की बनावट अत्यन्त सुघड़ है। चेरहा सुन्दर और बड़ा है। चेहरे के आकार के अनुसार केश–विन्यास किया गया है। एक मुखाकृति में तिरछा पूड़ा बनाया गया है। यह जूड़ा चेहरे की भव्यता को कम करने के दृष्टिकोण से बनाया गया है।

एक मुखाकृति में बालों को दो भागों में विभाजित किया गया है। बीच में मोटी वेणी बनाई गई जो शीर्ष के मध्य भाग तक है। बालों को कान के ऊपर से ले जाकर पीछे की ओर खुला रखा गया है। यह मुखाकृति साधारण स्त्री की प्रतीत होती है। चेहरा पतला है। ऊपर के ओष्ठ पतले एवं नीचे के मोटे हैं। नाक लम्बी है तथा केश–विन्यास चेहरे के अनुरूप है।

एक अन्य मुखाकृति में बालों को लच्छेदार। १२ भागों में विभाजित किया गया है। लच्छेदार बाल मस्तक के ऊपर तक हैं। फिर बालों को घुमाकर चक्करदार जूड़ा बनाया गया है। इसमें बाल कान के आधे भाग के ऊपर से लिये गये हैं। इसमें चेहरा एक नर्तकी सा मालूम होता है।

तीसरी मुखाकृति आध्यात्मिक भाव लिये हुए हैं। इस मुखाकृति में बालों को ऊपर उठाकर घुमाकर चक्करदार जूड़ा बनाया गया है। इसमें बायें कान को बालों से ज्यादा ढंका गया है। इक मृण्मूर्ति में पहले बालों को दो भागों में नाक की सीध से बाँटा गया है । पुनः बालों को ६–६ भागों में बाँटागया है। फिर पाँच भागों में बाँटकर घुमावदार रोल बनाये गये हैं, जो देखने में पानी की लहरों का आभास कराते हैं। फिर बालों को चक्करदार घुमाकर जूड़ा बनाया गया है।

तीसरी मुखाकृति में बालों को ऊपर की ओर उभार कर कई भागों में बाँटकर सामने से ऊपर की ओर ले जाकर जूड़े को गोल अगड़ी आकार दिया गया है।

एक चित्र में, जिसमें दो मुखाकृतियाँ हैं, पहली मुखाकृति में पहले बालों को दो भागों को बाँटा गया है। फिर दोनों बालों को दो भागों में बाँटकर नीचे के केशों को लहरदार शक्ल प्रदान की गई है और ऊपर के केशों के बीच–बीच में मोड़कर घाटियों का आकार प्रदान किया गया है। दूसरी मुखाकृति मे बीच में एक मोटी वेणी बालों को घुमाकर बनाई गई है । फिर दोनो ओर ६–६ भागों में बाँटकर बालों को घुमाकर सेट किया गया है। एक अन्य चित्र में एक खण्डित मूर्ति और पाँच मुखाकृतियाँ है, जिनके केश–विन्यास में समानता है। इनके चेहरे में सौम्यता साफ झलकती है। मुखाकृति में बालों को गुच्छों के रुप में बाँट गया है। एक प्रतिमा में बालों को गुच्छेदार कई भागों में बाँटकर पीछे खुला छोड़ा गया है।[४]

खोह से प्राप्त मुखाकृतियों के केश–विन्यास की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

१– पाटी पर एक–एक बाल का बारीकी से प्रदर्शन ,

२– बालों को लहरदार एवं गुच्छे का आकार प्रदान करना,

३– चेहरे की भव्यता को कम करने के लिए तिरछे जूड़े

४– चेहरे के आकार व रुप के अनुसार केश–विन्यास,

५– कुछ मुखाकृतियों में ईरानी प्रभाव, तथा

६– वेणियों की अपेक्षा जूड़ों का अधिक प्रचलन।

केश–विन्यास के अनुसार ही स्त्रियाँ वस्त्र और अलंकरण धारण करती थीं। केश–विन्यास की इसी कला के कारण ऐसा लगता है कि ये मुखाकृतियाँ पांचवीं–छठी शताब्दी का हैं।[५] वर्तमान समय में अधिकांश मूर्तियाँ रामवन संग्रहालय में रखी गई है तथा कुछ सामग्री ऊँचेहरा के राजा के संग्रह में हैं।

संदर्भ

1 .जायसवाल : अंधकारयुगीन भारत, पृ. 407; ए. कनिंघम की एतद् विषयक रिपोर्ट

२. अग्रवाल वासुदेवशरण : भारतीय मूर्तिकला,पृ. १५

३. भवालकर वनमाला : महाभारत में नारी (सम्वन्धित अंशों का सार)

४. उक्त विवरण मिश्र उर्मिला प्रकाश : प्राचीन भारत में नारी पृ. १८०–८२ एवं विद्यालंकार अग्निदेव 'प्राचीन भारत में प्रसाधान' में प्रदत्त विभिन्न संदर्भो का आधारित।

५. रामवन संग्रहालय, सतना (म. प्र.) से प्राप्त की गई मूर्तियों के आधार पर केश–विन्यास का वर्णन किया गया है।

हिंगलाजगढ़ की देवी प्रतिमाओं में केश–सज्जा

–डॉ. कुमकुम कुलश्रेष्ठ

स्त्रियों की केश–सज्जा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अलंकरण माना जाता है। प्राचीन काल से ही स्त्रियाँ अपने केशों को विभिन्न प्रकार से सजाती एवं संवारती रही हैं । सैंधव सभ्यता में भी केश–विन्यास अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया जाता था। उत्खनन के परिणामस्वरूप शीश एवं कांच दोनों ही प्राप्त हुए हैं। स्त्रियाँ अपने केशों को बीच से माँग निकाल कर गूँथती थीं, तथा कभी अपनी चोटी को शीश पर कई वृत्तों में लपेटती थीं । पुरुष भी केश सज्जा में दक्ष होता था।[1]

अजन्ता व बाघ में चित्रित प्राचीन भारतीय नारियों के केश–विन्यास का शिल्पांकन अत्यन्त उत्कृष्ट तथा दर्शनीय है। प्राचीन भारत के खजुराहो, कोणार्क, देलवाड़ा, भुवनेश्वर, उदयपुर, ऊन आदि के मंदिरों में उकेरी गयी नारियों के केश–विन्यास अपने आप में विलक्षण हैं।

भारतवर्ष में नववधू के केश–विन्यास की प्राचीन लोक–परम्परा रही है। केश–सज्जा के बारे में अनेक भारतीय

कवि और लेखकों ने भी अपने–अपने ढंग से अलग–अलग वर्णन किया है। निश्चित ही सुकेशी के केश से मुग्ध होकर कवियों ने इनके केशों पर कविताएँ लिख डाली। कालिदास का कथन है–

लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वराजपुत्र्यां
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः।।
–कुमारसंभवम् १/४३

इसी प्रकार पद्मावत, गीतगोविन्द, सूरसागर, कविप्रिया, रसिकप्रिया, रसमंजरी आदि ग्रन्थों में उल्लेखित प्रसंगों के आधार पर भी नारी की केश–सज्जा का चित्रांकन संदर्भित पोथियों में किया गया है।

हिंगलाजगढ से प्राप्त देवी एवं अप्सरा प्रतिमाओं की अलंकृत केश–सज्जा को प्रदर्शित करने में शिल्पकार ने असाधारण कौशल दिखलाया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उसकी साधना के प्रतिफल में साहित्य के सभी रस पत्थरों पर साकार हो उठे हों । परमारों के समय में हिंगलाजगढ़ ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण पश्चिमी मालवांचल का शिल्प–वैभव अपने चरमोत्कर्ष पर था । यहाँ के शिल्पकारों ने देवी–प्रतिमाओं के केश–विन्यास को अनोखे ढंग से सजाया और सँवारा है। कुंतलित केश–विन्यास की प्राचीन परम्परा यहां कीअपने चिन्तन द्वारा कला को जो शास्त्रीय रूप दिया, शिल्पियों ने उसे कुशलतापूर्वक साकार किया । अत एव हम उन सभी ज्ञात–अज्ञात शिल्पियों के प्रति ऋणी हैं, जिनकी कलाकृतियाँ देखकर हम स्मिय–विमुग्ध हो जाते हैं। इन शिल्पियों ने इतनी निष्ठा और लगन से ऐसे निर्माण किये कि वे कला की अमर निधि हो गये। ये

कलाकृतियां विशुद्ध पूजा–भाव और धार्मिक प्रेरणा से रची गई। ये शिल्पी लौकिक उद्देश्य अथवा स्वार्थ–सिद्धि की भावना से कम, किन्तु सात्त्विक एवं मंगलप्रद भावना से अधिक ओतप्रोत रहे। इनकी कला को देखकर हम श्रद्धा से मत–मस्तक हो जाते हैं। ये शिल्पी भारत के गौरव हैं, अतः इनका ऐतिहासिक अध्ययन करना हमारा पुनीत कार्त्तव्य हो जाता है।

केशों को मांग भरकर, विविध प्रकार के जूड़े बांधकर एवं मुक्ताजाल तथा पुष्पों से अलंकृत किया जाता था। देवी–प्रतिमाओं में केश–विन्यास को कुटिलपट्टिका, चूडापाश, मौलि तथा बहिर्भार अथवा मधु के छत्ते जैसी केश संरचना के उपप्रकारों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार का केश–विन्यास निश्चित ही मालवा की मध्यकालीन केश–सज्जा विधा में लोकप्रिय रहा होगा। अलंकृत केश–सज्जा तथा नायक–नायिकाओं के केशों को अनेक प्रकार से सजाने और सँवारने के लिये शिल्पी ने बड़ी तन्मयतापूर्ण कार्य किया है। वस्तुतः केश–विन्यास की प्राचीन परम्परा के अनुसार शिल्पकार ने समाज में व्याप्त नारियों की केशसजा का अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्ण परीक्षण किया होगा, जिसके फलस्वरुप वह मूक पाषाण में भी सजीवता प्रदर्शित करने में सफल रहा । हिंगलाजगढ़ का शिल्पी आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाने वाली सौन्दर्य सृष्टि का उत्प्रेरक था । वह आस–पास के वातावरण का भी मज्ञ था। मालवा की स्त्रियाँ केशों को गूंथने के पश्चात् उन्हें विभिन्न प्रकार के पुष्पों के माध्यम से सुसज्जित करती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि मालवा का शिल्पकार निश्चित ही पूर्ववर्ती एवं समकालीन काव्य–सौन्दर्य से अवगत था। उसने

निश्चित ही दिव्यांगनाओं का सौन्दर्य–बोध आत्मसात् किया होगा, जिसकी परिकल्पना करके उसने हिंगलाजगढ़ की नारी–प्रतिमाओं के केशों को अनेक रुपों में तराशा है। वह कालिदास वर्णित इस तथ्य से भी अवगत रहा होगा कि विदिशा के सम्भ्रान्त नागरिकों के उद्दाम यौवन की अभिव्यक्ति वहाँ के शिलागृहों से निकली रति परिमल की गन्ध से भरपूर होती थी।[२] उज्जयिनी जैसी सांस्कृतिक नगरियों की वीथिकाएँ अभिसारिकाओं की मधुर ध्वनि से मुखरित रहा करती थीं।[३] परमार काल में एसा उल्लेख मिलता है, यौवनवती सुन्दरियों के स्वाभाविक रुप से चिकने, काले, निर्मल, मनोहर गंध वाले, कोमल, बिखरे हुए और सुन्दर केशों को देखकर विलासी–जन विमुग्ध हो उठते थे।[४]

हिंगलाजगढ़ के शिल्पी ने देवी–प्रतिमाओं के केशों को अनेक प्रकार की विविधता प्रदान की है। देवी माहेश्वरी की प्रतिमा को शिव की भाँति जटामुकुट से अलंकृत किया गया है, वहीं चामुण्डा की प्रतिमा के केशों को जटाभर से विभूषित कर उन्हें अस्थिमणियों से अलंकृत किया गया है।[५] देवियों की भाँति नायिकाओं के केशों को भी कलात्मक ढंग से शिल्पांकित किया गया है। विषयवस्तु की दृष्टि से अभिसारिका मानवती एवं कामवती तथा मुग्धा के आलेखन को विशेष महत्त्व दिया गया है।[६] उनके केश–विन्यास की संरचना उच्चस्तरीय है। नायिकाओं के माध्यम से शिल्पी ने अलौकिक आनन्द की लौकिक अनुभूति को सुन्दरियों और देवांगनाओं के माध्यम से धरती पर स्वर्ग को उतारने का प्रयास किया है। हिंगलाजगढ़ की एक प्रतिमा में सद्यःस्नाता नायिका स्नानोपरांत अपने केश निचोड़ते हुए दर्शित की गई है, जिनसे बूँद–बूँद टपकते हुए जल को हंस मोती समझकर अपनी गर्दन उठा

कर पी रहा अंकित है। नायिका अपनी कुंतलित केशराशि के ऊपर दाहिने हाथ में दर्पण तथा बायें हाथ से अपनी मांग में सिन्दूर भरने का उपक्रम कर रही है।[७] इस उपक्रम में वह ऐसी प्रतित हो रही है मानो उसने रात के अन्धकार से मार्ग को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर दिया हो । उसी प्रकार देवांगना अंजना की मुक्ताजाल से व्यवस्थित केशराशि को शिल्पी ने बड़े ही कलात्मक ढंग से सजाया और संवारा है।[८] अपने बाये हाथ में दर्पण तथा दाहिने हाथ में अंजन–शलाका लिये हुए मुक्ताजाल से व्यवस्थित केशराशि को बांधने वाली इन नायिकाओं की चेष्टाओं पर सभी का मन रीझ जायेगा। यहाँ से प्राप्त आलिंगनबद्ध मोहिनी की केशराशि को शिल्पकार ने धम्मिलयुक्त केशग्रन्थि को पट्टिका से बांध कखा है, जिससे कामोत्तेजित नायिका का सौन्दर्य और भी आकर्षक प्रतीत होता है।[९] कहीं शिल्पी ने केशों को मणिपट्टिका, धम्मिल केशबंध, मुक्ताजाल से बांध कर सजाया है, तो कहीं पर उसने मधुमक्खियों के छत्ते की तरह वेणी को सजाकर प्रतिमा के केश–विन्यास में चार चाँद लगा दिये हैं।

इस प्रकार हिंगलाजगढ़ के शिल्पी ने परमारकाल की देवी प्रतिमाओं को अनेक प्रकार के केशविन्यास से सुसज्जित कर अपनी कला को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया है।

शुंग–सातवाहन काल की यह कला गुप्तों के राज्यकाल में परिवर्तित हुई तथा प्रतिहारों और परमारों का राज्याश्रय पाकर उसका असीम विकास हुआ। यह सम्पूर्ण शिल्प–कला शिल्पी की सशक्त साधना और समृद्ध राज्याश्रय के कारण ही सम्पन्न हुई होगी। शिल्पकार ने अपनी सात्विक, सुकुमार और उत्प्रेरक भावनाओं को पाषाण के कठोर माध्यम से साकार कर न केवल

अपनी कला–प्रतिभा का परिचय दिया है, अपितु यह भी प्रमाणि कर दिया है कि कला की उत्कृष्ट भावना एवं आंतरिक उद्रेक को किसी भी उपकरण द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। उसके लिये सौन्दर्य–सृष्टि अथवा भावनाओं की सजीव और मौलिक अभिव्यक्ति ही कला है।

संदर्भ

१. काला सतीशचन्द्र : सिंधु सभ्यता पृ. ७२–७३
२. पूर्वमेघ, २७
३. उक्त, ४१
४. पद्मगुप्त : नवसाहसांक चरित, सर्ग–१
५–६ ये प्रतिमाएँ इन्दौर संग्रहालय में संग्रहीत है।

सेहतमंद मध्यप्रदेश की तरफ एक और कदम

50 विकास खंडों में धनवंतरी का आशीर्वाद

स्वास्थ्य सेवाओं को श्रेष्ठ स्तर तक पहुँचाने के लिये 50 विकासखंडों में शुरू है **'धनवंतरी विकासखंड योजना'**।

इन विकासखंडों में होगा

- ✓ शत-प्रतिशत टीकाकरण
- ✓ शत-प्रतिशत प्रसव पूर्व जाँच
- ✓ शत-प्रतिशत संस्थागत प्रसव
- ✓ शत-प्रतिशत कुपोषित बच्चों को बाल शक्ति योजना का लाभ

हर पात्र परिवार को दीनदयाल कार्ड, जननी सुरक्षा/प्रसव पूर्व परिवहन योजना का लाभ हर हितग्राही को, परिवार कल्याण योजनाओं की पहुँच हर दंपत्ति को, हर गाँव में आवश्यक दवा और परिवार कल्याण साधनों का डिपो, हर परिवार में ओ.आर.एस. उपयोग की समझ, निमोनिया के लक्षणों की पहचान, हर स्कूली बच्चे की स्वास्थ्य जाँच, बालिका की शादी 18 साल के पहले नहीं, सरकारी अस्पताल में हर गरीब मरीज़ को उसके हक़ के फायदे।

भोपाल (**बैरसिया**), रायसेन (**बरेली**), राजगढ़ (**ब्यावरा**), सीहोर (**नसरुल्लागंज**), बैतूल (**घोड़ाडोंगरी**), हरदा (**टिमरनी**), होशंगाबाद (**सोहागपुर**), विदिशा (**नटेरन**), भिण्ड (**मेहगाँव**), श्योपुर (**बड़ोदा**), ग्वालियर (**डबरा**), मुरैना (**जौरा/नूराबाद**), शिवपुरी (**केलारस**), दतिया (**इन्दरगढ़**), गुना (**आरोन**), अशोकनगर (**चंदेरी**), इंदौर (**महू**), धार (**बदनावर**), खरगौन (गोगाँव), खण्डवा (**पुनासा**), बुरहानपुर (**खकनार**), झाबुआ (**थांदला**), बड़वानी (**ठीकरी**), छिंदवाड़ा (**पिण्डरई कलां**), कटनी (**विजयराघौगढ़**), बालाघाट (**लालबर्रा**), सिवनी (**लखनादौन**), नरसिंहपुर (**बाबई चीचली**), जबलपुर (पाटन), मण्डला (**नैनपुर**), डिण्डौरी (**डिण्डौरी**), सतना (**अमरपाटन**), रीवा (**सिरमौर**), उमरिया (**पाली**), शहडोल (**ब्योहारी**), अनूपपुर (**अनूपपुर**), छतरपुर (**नौगाँव**), दमोह (**हटा**), सागर (**देवरी**), टीकमगढ़ (**बल्देवगढ़**), पन्ना (**अजयगढ़**), सीधी (**सेमरिया सीधी विकासखंड**), उज्जैन (**बड़नगर**), देवास (**कन्नौद**), मंदसौर (**गरोठ या मेलखेड़ा**), नीमच (**मनासा**), रतलाम (**जावरा**), शाजापुर (**आगर**)।

बेहतर सेहत, बेहतर भविष्य

मध्यप्रदेश

जनसंपर्क/माध्यम/2005

आदेश क्र. D 64512 तिथि 15-09-05